

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180256

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—851—5-8-74—15,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 28

Accession No. H 2486

Author K 125

Title चरित्र व पचार्य वष बाई

This book should be returned on or before the date last marked below.

कृष्णचन्द्र एम० ए०

स्वराज्य के पचास वर्ष बाद



राजपाल एण्ड सन्ज

कश्मीरी गेट

दिल्ली-६

प्रथम संस्करण

१९५५

अनुवादक

बालकृष्ण एम० ए०

मूल्य तीन रुपया

मुद्रक

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस

क्वीन्स रोड, दिल्ली

विषय-सूची

१. मेरा मनपसन्द पृष्ठ	१
२. मनोविज्ञान-विशेषज्ञ	८
३. अकाल उगाओ	१४
४. मेंढक की गिरफ्तारी	२४
५. भाङ्ग	३७
६. स्वराज्य के पचास वर्ष बाद	५६
७. गलतफहमी	६६
८. प्रेम—और एक कार	७७
९. मांगे की किताबें	८७
१०. गाना	९६
११. विटामिन	१०५
१२. भूमिका-लेखन-कला	१११
१३. जान-पहिचान वाले	१२०
१४. घूँघट में गोरी जले	१२८
१५. हवाई महल	१३६
१६. रोना	१४६
१७. बदसूरती	१५२
१८. बैचलर आफ आर्ट्स	१५८
१९. सेहत खराब है	१६८

मेरा मन-पसन्द पृष्ठ

१.

कुछ लोग सुबह उठते ही जम्भाई लेते हैं, कुछ व्यायाम करते हैं, और कुछ गरम-गरम चाय पीते हैं। मैं सुबह उठते ही समाचार-पत्र पढ़ता हूँ, और जिस दिन मेरे पास अवकाश का समय अधिक होता है उस दिन तो मैं समाचार-पत्र को आदि से लेकर अन्त तक—विज्ञापनों और अवालती नोटिसों सहित—पढ़ डालता हूँ।

यूँ तो समाचार-पत्र सारे का सारा अच्छा होता है, परन्तु साधारण लोगों के लिये उसका प्रत्येक पृष्ठ समान दिलचस्पी नहीं रखता। मैंने ऐसे लोग भी देखे हैं जो समाचार-पत्रों में केवल 'रेस' के 'टिप' पढ़ते हैं। या बहुत से व्यक्ति केवल वह पृष्ठ पढ़ते हैं जिसमें सोना, चांदी, कलई, तांबा, रुई, पटसन, गुड़ आदि के भाव प्रकाशित होते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो किसी पत्र का पहला पृष्ठ ही पढ़ते हैं जिस पर अधिकांश में बड़े भयानक समाचार मोटे-मोटे अक्षरों में छपते हैं। इन समाचारों में बहुधा हत्या, डाके, चोरी, धोखेबाजी और मार-पीट की घटनाएं सम्मिलित होती हैं और इन्हें मोटे-मोटे शीर्षकों के साथ छापा जाता है। कुछ लोग समाचार-पत्र हाथ में आते ही उस पृष्ठ को पढ़ते हैं जिसे 'सम्पादकीय' पृष्ठ कहा जाता है और जिसमें यदि आज किसी बात के पक्ष में लिखा जाता है तो कल उसके विरुद्ध उसी जोर और जिम्मेदारी के साथ लिखा जाता है। यदि पहले दिन आप उस बात के पक्ष में हैं तो दूसरे दिन आप उसके विरुद्ध हो जाते हैं। यार लोगों ने इस स्थिति का नाम 'जन-मत' रख छोड़ा है। अपनी-अपनी सूझ-बूझ ही तो है।

सब पृष्ठिये तो मुझे इन पृष्ठों में से कोई पृष्ठ पसन्द नहीं है। घुड़-दौड़ के 'टिप' बहुधा ग़लत निकलते हैं। मैं कई बार धोखा खा चुका हूँ और समाचार-पत्र के रेस-एक्सपर्ट की जान को रो चुका हूँ। रुई, सोने-चांदी और पटसन के भाव भी बदलते देखे गए हैं। सोना तो भला सोना है, परन्तु चांदी का भाव भी आजकल इस तरह बढ़ रहा है कि कुछ समझ में नहीं आता कि कौन-सी धातु अच्छी है—सोना या चांदी ! यही अवस्था मिलों, बैंकों और कम्पनियों के हिस्सों की है। इनमें इतनी तेजी-मन्दी दिखाई देती है कि मने तो अब यह पृष्ठ देखना ही छोड़ दिया है। पहला पृष्ठ भी मने पढ़ना छोड़ दिया है। कभी यह मेरा मन-पसन्द पृष्ठ था। परन्तु लगातार दो वर्ष तक इस पृष्ठ के खूनी और थर्रा देने वाले समाचार पढ़कर मुझे दिल की धड़कन की बीमारी हो गई है और अब डाक्टरों ने मुझे यह पृष्ठ पढ़ने से रोक दिया है। जो लोग नहीं चाहते कि उनकी मृत्यु हृदय-रोग से हो, उनके लिये भी यह परहेज लाभदायक रहेगा।

आजकल मेरा मन-पसन्द पृष्ठ वह है जो पहला पृष्ठ उलटने के बाद आता है—अर्थात् दूसरा पृष्ठ, जिस पर केवल विज्ञापन होते हैं। मेरे विचार में यह समाचार-पत्र का सबसे सच्चा, सबसे अच्छा और सबसे मनोरंजक पृष्ठ होता है। यह लोगों के व्यापारिक लेन-देन और कारोबार का पृष्ठ है, उनकी निजी व्यस्तताओं का चित्र है, उनके जीवन के ठोस सामाजिक तथ्यों की अभिव्यक्ति है। यहां पर आपको कार-वाले और बेकार टाइपिस्ट और मिल-मालिक, मकान की तलाश करने वाले मकान बेचने वाले, गंरिज ढ़ूंढ़ने वाले, निजी पुस्तकालय बेचने वाले, कुत्ते पालने वाले, चूहे मारने वाले, सरसों का तेल बेचने वाले, और मनुष्यों का तेल निकालने वाले, पचास लाख का मिल खरीदने वाले, और पचास रुपये की ट्यूशन करने वाले—सभी भागते-दौड़ते चीखते-चिल्लाते हुए दिखाई देते हैं। यह हमारे जीवन का सब से जीता-जागता पृष्ठ है जिसका प्रत्येक विज्ञापन स्वयं अपने में एक पूरी कहानी

है और प्रत्येक पंक्ति एक कविता। यह पृष्ठ हमारे संसार की सब से बड़ी संरगाह है जिसके रंगबिरंगे दृश्य मुझे घंटों आकर्षित किये रखते हैं। आइये, आप भी मेरे इस मन-पसन्द पृष्ठ के मनोरंजन में सम्मिलित हो जाइये।

देखिये, यह है 'पर्सनल' (निजी) कालम। "नाइलन जुराबों का स्टाक आ गया है, व्यापारी तुरन्त ध्यान दें।" आप कहेंगे कि 'यह तो कोई 'निजी' दिलचस्पी की चीज नहीं है। हमें नाइलन जुराबों से क्या लेना।' यह ठीक है, परन्तु तनिक युवतियों से पूछिये जिनके हृदय यह समाचार सुनकर ही धड़क उठेंगे और टांगें प्रसन्नता के मारे नाचने लगेंगी। आजकल युवतियों के मन में जुराबों का वही महत्त्व और मूल्य है जो किसी समय में मोतियों की माला का होता था। आगे चलिये।

"डालिग ! तुरन्त पत्र लिखो। द्वारा—एस. डी, ककरंजा, नीलाम-पुर।" कौन डालिग है यह ? क्यों यह व्यक्ति 'डालिग' के घर या उसकी किसी सहेली के यहां पत्र नहीं भेज सकता। यह बेचारा समाचार-पत्र में विज्ञापन क्यों दे रहा है ? देखिये, कैसी-कैसी विवशताएं होंगी उस बेचारी लड़की के सामने भी। वह भी मेरी तरह यह समाचार-पत्र प्रतिदिन खोलती होगी, इसमें 'निजी कालम' देखती होगी और अपने लिये कोई समाचार न पाकर कितनी उदास और निराश होती होगी। और आज जब वह 'निजी कालम' में यह समाचार पढ़ेगी तो कैसे चौंक उठेगी वह। प्रसन्नता से उसका चेहरा चमक उठेगा और वह बरबस समाचार-पत्र को उठाकर कलेजे से लगा लेगी। और यह एस. डी, ककरंजा कौन है ?—अब उसके सम्बन्ध में आप अनुमान लगाइये। सम्भव है वह कोई भड़भूंजा हो, या कोई साधारण-सा क्लर्क हो, या 'विलास-वर्धक गोलियां' बेचने वाला हो या नीलामपुर में रसगुल्ले और बंगाली मिठाई की दूकान करने वाला हो, या शायद किसी बड़े मिल का मालिक हो, यह इनमें से कोई भी व्यक्ति हो सकता है। अब आप

सोचते जाइये और देखिये कि जीवन कितना दिलचस्प होता जा रहा है ।

इससे अगला कालम देखिये । यह मकानों का कालम है । आजकल मकान कहीं दूँड़े से भी नहीं मिलते, परन्तु इन कालमों में आपको हर तरह के मकान मिल जाएंगे । “मेरे पास समुद्र के किनारे एक बंगले में एक अलग कमरा है । परन्तु मैं शहर में रहना चाहता हूँ । यदि कोई सज्जन मुझे शहर में एक अच्छा-सा कमरा दे सकें तो मैं उन्हें समुद्र के किनारे का अपना कमरा उसके सामान के साथ दे दूँगा । सामान में एक सोफा-सेट, दो टेबल-लैम्प और एक पीतल का लोटा सम्मिलित है ।”

लौजिये, यदि आप शहरी जीवन से उकता गए हों तो समुद्र के किनारे जाकर रहिये । यदि आप समुद्र के किनारे रहने से घबराते हों तो शहर में जाकर रहिये ।

यह दूसरा विज्ञापन देखिये—“किराए के लिये खाली है, नया मकान, आठ कमरे, दो किचन, स्नान-गृह और गैरिज भी है । मकान के ऊपर छत अभी नहीं है, परन्तु अगले महीने तक तैयार हो जाएगी । किराएदार सुरस्त ध्यान दें ।” आप यह विज्ञापन पढ़कर तुरन्त उधर ध्यान देते हैं बल्कि कपड़े बदलकर चलने का निश्चय भी कर लेते हैं कि इतने में आपकी दृष्टि अगली पंक्ति पर पड़ती है । लिखा है—“किराया उचित, परन्तु एक वर्ष का पेशगी देना होगा । वार्षिक किराया अठारह हजार रुपये ।” और आप फिर बैठ जाते हैं और अगला विज्ञापन देखते हैं ।

अगले विज्ञापन में लिखा है—“उत्तम भोजन, सुन्दर दृश्य, फर्नीचर से सुसज्जित खुला कमरा, बिजली पानी मुफ्त । सब मिलाकर किराया ३५०) माहवार ।” आप हर्षोन्मत्त होकर चिल्ला उठते हैं—मिल गया, मुझे एक कमरा मिल गया । कितना सस्ता और अच्छा, और खाना साथ में । वाह, वाह ! आप तुरन्त पत्र लिखने की सोचते हैं, और फिर कलेजा धामकर बैठ जाते हैं क्योंकि आगे लिखा है—“दिलकश होटल, दाजि-

लिंग ।' आप बम्बई में नौकर हैं और यह प्रकट है कि दिलकश होटल दार्जिलिंग में रहकर आप बम्बई में नौकरी नहीं कर सकते ।

अगला कालम देखिये । ये अगले दो कालम 'आवश्यकता है' के विज्ञापनों से भरे पड़े हैं जिसमें एक सुन्दर लड़की की आवश्यकता है, एक बूढ़े मद्रासी अकाउंटेंट की आवश्यकता है जो कन्नड़ भाषा के अतिरिक्त तामिल, तैलगू, मलयालम, सिन्हाली और हिन्दी भी जानता हो । वेतन ७०) मासिक । एक कम्पाउण्डर की आवश्यकता है जो कम-से-कम एम. बी., बी. एस. हो । एक चपरासी की आवश्यकता है, वेतन ४०) मासिक । उर्दू समाचार-पत्र के लिये सम्पादक की आवश्यकता है; वेतन ३०) मासिक । एक साहब को एक सेक्रेटरी की आवश्यकता है जो उनके लिये भाषण दे सके; और एक जादूगार की आवश्यकता है जो उनका मन बहला सके । एक लेडी कम्पैनिन की आवश्यकता है जो घोड़े की सवारी जानती हो और गुलमर्ग के होटलों से परिचित हो । एक फिटर की आवश्यकता है जो बड़े छेद में छोटी कील गाड़ सके । एक इञ्जीनियर की आवश्यकता है जो छोटी कील के लिये बड़ा छेद तैयार कर सके । एक बावर्ची की आवश्यकता है जो मांस के बिना शामी-कबाब बना सके । एक धोबी की आवश्यकता है जो भले ही कमीज फाड़ दे, परन्तु बदन साबुत रखे । सारांश यह कि यही वह कालम है जिसे पढ़कर मुझे अपने रंग-बिरंगे समाज का और उसकी गिरावटों अथवा उँचाइयों का अनुमान होता है । जो कुछ आपके चारों ओर इस संसार में हो रहा है उसका सच्चा प्रतिबिम्ब आपको इन्हीं कालमों में मिलता है । समाचार-पत्र के शेष पृष्ठ तो व्यर्थ में झूठ बोलकर हमारा समय नष्ट करते हैं ।

पृष्ठ का अगला कालम मोटरों, पुस्तकों और कुत्तों के सम्बन्ध में है । इसमें आप देखेंगे कि एक ही माँडल की दो गाड़ियाँ भिन्न २ मूल्य पर बिक रही हैं । सेठ मदनलाल की गाड़ी सात हजार रुपये में बिक रही है वे उसे बेचकर कोई दूसरा माँडल लेना चाहते हैं । उसी माँडल की गाड़ी मिस्टर मेकडॉनल्ड दो हजार रुपये में बेच रहे हैं क्योंकि वे बिलायत का

रहे हैं। एक सुन्दर कुत्ता है जो १५०) में बिक रहा है। शेक्सपीयर के नाटकों का सचित्र संस्करण है जो दस रुपये में बिक रहा है। यह मैंने बहुधा देखा है कि कुत्तों के दाम पुस्तकों से कहीं अधिक होते हैं। मैंने यह भी देखा है कि मोटरों और कुत्तों को बेचने और खरीदने वाले तो बहुत होते हैं परन्तु पुस्तकों के केवल बेचने वाले होते हैं खरीदने वाला कोई नहीं होता। इस कालम के विज्ञापनों में हमें अपने देश की महान् संस्कृति का प्रतिबिम्ब मिलता है।

इस पृष्ठ का वह कालम जिसे मैं सबसे पहले पढ़ता हूँ विवाह का कालम है। “वर की आवश्यकता है—एक अठारह वर्षीया सुन्दर ग्रेजुएट लड़की के लिये।” “वर की आवश्यकता है, एक लम्बे क्रद की और हंस-



मुख और अत्यन्त सुन्दर लड़की के लिये जो नाचना-गाना भी जानती है

और साहित्यिक रुचि भी रखती है ।” “वर की आवश्यकता है एक खान-
दानी सुन्दर लड़की के लिये, जिसका पिता एक मिल का मालिक है ।
लड़का अच्छा होना चाहिये—जाति-भेद का कोई प्रश्न नहीं ।”

और मैं भी जाति-भेद की परवाह किये बिना हर जगह आवेदन-पत्र
भेजने की सोचता हूँ कि इतने में मेरी धर्मपत्नी सर पर आ खड़ी होती
है और मुझसे पूछती है—क्या पढ़ रहे हो ? और मैं एक विषादमुक्त
मुस्कराहट के साथ अपना मन-पसन्द पृष्ठ बन्द कर देता हूँ ।

आजकल सुनते हैं कि अमरीका में मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने मानव-ज्ञान के कोष में बड़ी मूल्यवान् वृद्धि की है। उनके मतानुसार संसार में मानवीय रोगों का कोई अस्तित्व नहीं है। ये रोग केवल मनुष्य के मन के वहम हैं। अर्थात्, यदि आपको कोढ़ है तो वास्तव में आपको कोढ़ नहीं है वरन् यह आपके मन का वहम है। यदि आपको अधरंग मार गया है तो वास्तव में आपके मस्तिष्क में भ्रमपूर्ण विचार उत्पन्न होने के कारण आपको ऐसा प्रतीत होता है। जिस दिन आपके मस्तिष्क में से यह बात निकल गई उसी दिन आपका कोढ़ या अधरंग स्वतः ठीक हो जाएगा। ये विशेषज्ञ प्रत्येक रोग को मस्तिष्क की किसी विकृत अवस्था से सम्बन्धित मानते हैं। ये विशेषज्ञ इस प्रयत्न में लगे रहते हैं कि किसी न किसी तरह रोगी के मस्तिष्क को उस विकार-युक्त विचार से खाली करा दिया जाए। और यदि यह न हो सके तो कम से कम रोगी की जेब को तो अवश्य ही खाली करा दिया जाए।

विख्यात अमरीकी मनोविज्ञान-विशारद डा० मैक ग्रैगरी का कहना है कि मनुष्य के केवल शारीरिक रोग ही नहीं वरन् उसकी अनुभूतियां, भावनाएं और विचार-प्रवृत्तियां भी इसी प्रकार के मानसिक वहम एवं उल्लभन के परिणाम होते हैं। उनका मत है कि यदि आप गरीबों से प्रेम करते हैं तो यह आपका भ्रम है, वास्तव में आप उनसे घृणा करते हैं और इस घृणा को प्रेम के पर्दे में छिपाकर अपने आपको धोखा दे

रहे हैं। प्रेम और घृणा एक-दूसरे की विषम भावनाएं हैं। यदि आप हड़ताल कर रहे हैं तो वास्तविक बात यह है कि यह आपका वहम है कि आप हड़ताल करना चाहते हैं अन्तर्चेतना की किसी तह में कहीं यह विचार छिपा हुआ है कि आप क्यों काम करें और क्यों न आराम से बैठकर रोटी खाएं और दूसरों को अपना काम करने दें। अर्थात् आप हड़ताल इसलिए कर रहे हैं कि आपके अन्दर पूंजीवादी प्रवृत्ति काम कर रही है। दूसरे शब्दों में जो मजदूर होता है वह अन्दर से पूंजीवादी होता है और जो पूंजीवादी होता है वास्तव में मजदूर होता है। यदि इस बात का और अधिक विश्लेषण किया जाए तो न कोई मजदूर है, न पूंजीपति। यह केवल आपका मानसिक विकार एवं वहम है। शायद यही कारण है कि आजकल अमरीका में पागलों की संख्या बढ़ रही है। ज्यों-ज्यों अमरीकी मनोविज्ञान की उन्नति हो रही है मानवी अन्तर्चेतना में नित्य नये विकारों की उपस्थिति का ज्ञान होता जाता है। यह बात विश्वास के साथ कहीं जा सकती है कि एक दिन अमरीकी मनोविज्ञान-विशेषज्ञ यह पता लगा लेंगे कि मनुष्य मानसिक विकारों एवं साक्षात् पागलपन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। और यह परमाणु-बम के बाद दूसरा आविष्कार होगा जिससे अमरीकी संस्कृति की जड़ें मजबूत होंगी।

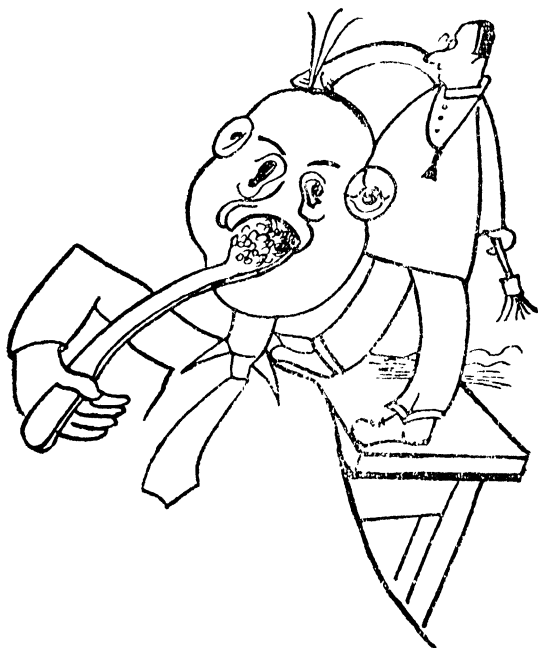
डा० ग्रेंगरी ने इसी सिद्धान्त के अनुसार मानवी प्रेम को मानसिक विकार का एक रूप घोषित कर दिया है। उन्होंने एक औषध भी तैयार की है जिसको पीते ही मनुष्य के हृदय में से प्रेम की भावनाएं लुप्त हो जाती हैं। पैनस्लीन के बाद यह दूसरी बड़ी महोषधि है जिसे अमरीकी औषध-विज्ञान ने संसार के सामने प्रस्तुत किया है। सुना है कि इस औषध का सेवन सारी अमरीकी जनता को कराया जाएगा और अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन स्वयं इसमें बड़ी दिलचस्पी ले रहें हैं। बल्कि सबसे पहले इस औषध को स्वयं उन्होंने और मिस्टर मार्शल ने चखा था। इसका अनुसंधान बहुत सफल हुआ है, इसलिये अब पूरे अमरीकी राष्ट्र पर इसका प्रयोग किया

जाएगा, जिससे दूसरे भयानक रोगों की भांति मानवीय प्रेम के रोग की भी रोक-थाम की जा सकेगी। अमरीकी बच्चों के लिये इस ओषधि का टीका तैयार किया गया है जो उनके जन्म के समय उन्हें लगा दिया जाएगा। बल्कि यह चेचक के टीके से भी पहले लगाया जाएगा क्योंकि अमरीकी डाक्टरों का मत यह है कि यह रोग कोढ़, तपेदिक आदि से भी अधिक भयानक है। वॉल-स्ट्रीट के बैंकरों ने पचास अरब डालरों की पूंजी से एक कारखाना स्थापित किया है जहां इस ओषधि का अतुल परिमाण में निर्माण किया जाएगा। वहां के डाक्टरों और राजनीतिज्ञों का विचार है कि इस महान् ओषधि से केवल अमरीकी लोग ही क्यों लाभ उठावें; संसार भर के मनुष्यों को क्यों न इस अमृत का लाभ पहुँचाया जाए। अतः यह सोचकर अमरीकी प्रतिनिधि ने यू. एन. ओ. में यह सुझाव रखा कि संसार-भर की जन-संख्या को यह ओषधि पिलाई जाए। परन्तु यथापूर्व रूसी प्रतिनिधि ने इस सुझाव का विरोध किया। यद्यपि यह ओषधि अमरीकी कारखाने में, अमरीकी डाक्टरों की देख-रेख में और पूर्णतया अमरीकी पूंजी से तैयार होकर अमरीकी प्रबन्धकों के तत्वावधान में बिना मूल्य के लोगों में बांटी जाती, परन्तु रूसी प्रतिनिधि ने अपने वीटो-अधिकार से काम लेकर इस सुझाव को रद्द कर दिया। यू. एन. ओ. का बहुमत, जिसमें भारत भी सम्मिलित है, इसके पक्ष में था। केवल एक इसी बात से प्रकट होता है कि रूस किस तरह प्रजातन्त्रवाद का शत्रु है और अपने 'वीटो-अधिकार' का मनुष्य की भलाई के विरुद्ध प्रयोग करता है।

अस्तु, इस बात को छोड़िये। मैं अपना लेख केवल वैज्ञानिक आविष्कारों के सम्बन्ध में ही लिखना चाहता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि विज्ञान का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। मैं ओषधि-विज्ञान की बात कर रहा था। इससे मुझे विख्यात अमरीकी सर्जन मिस्टर फिलफिल डूलिटिल की आश्चर्यजनक सर्जरी का ध्यान आता है। अमरीका में सर्जरी-विद्या ने फिलफिल डूलिटिल तथा उसके

साथियों की कृपा से बहुत उन्नति की है। एक व्यक्ति की अन्तड़ियाँ काट दी गईं। एक व्यक्ति ऐसा है कि उसका मेदा निकाल दिया गया है और वह उस भोजन के सहारे जी रहा है जिसे सीधी अन्तड़ियाँ ही पचा लेती हैं। एक व्यक्ति के हृदय का गला हुआ भाग निकालकर फेंक दिया गया। एक और व्यक्ति का फेफड़ा काटकर वहाँ लोहे की नलकी लगा दी गई है जो स्वयं साँस अन्दर खींचती है और बाहर निकालती है और मनुष्य के प्राकृतिक फेफड़े की भांति विभिन्न गैसों पैदा करके उस व्यक्ति का रक्त शुद्ध करती है।

अमरीकी सर्जरी-विद्या की निपुणता का कहां तक वर्णन किया जाए ! ये डाक्टर आपके बेढंगे कान काटकर आपको बहुत सुन्दर कान



प्रदान कर सकते हैं। नया नाक लगा सकते हैं, नए होंट बना सकते

आपके गंजे सिर पर बाल उगा सकते हैं। ये लोग ऐसा कर सकते हैं कि आप आंखों से सुन सकें, कानों से देख सकें, नाक से चख सकें और मुंह से सूंघ सकें। इनमें सबसे अधिक विलक्षण चमत्कार जान नामक हब्शी के सम्बन्ध में हुआ था। उसका रंग काला था; परन्तु डाक्टरों ने इन्जेक्शनों द्वारा उसे गोरा कर दिया। उसके मोटे होठ उन्होंने पतले कर दिये; उसके काले घुंघराले बालों को सीधा और सुनहरा—शुद्ध अमरीकी—कर दिया। उसकी घनी भौहों को कमान की आकृति का बना दिया और उसके आगे बढ़े हुए जबड़े को काट-छांटकर अमरीकी जबड़ा बना दिया।

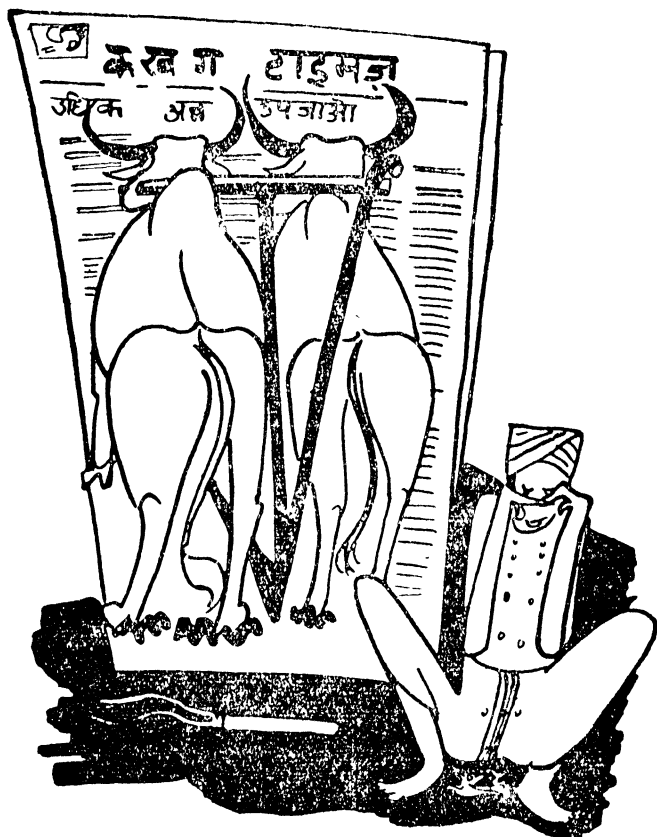
यह सब कुछ तो हुआ—हब्शी का रंग गोरा हो गया; परन्तु उसकी पतलून पूर्ववत् फटी हुई है। उसकी नाक पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है, परन्तु उसके पांव में जूता नहीं है। उसका जबड़ा सुन्दर बन गया है, परन्तु उस जबड़े के अन्दर गेहूं का एक दाना नहीं गया है। अमरीकी डाक्टरों ने हृदय का एक गन्दा भाग तो काटकर फेंक दिया है, परन्तु वे मानव-हृदय की गन्दगी को दूर नहीं कर सके। उन्होंने लोहे का फेफड़ा तो बना दिया, परन्तु वे समाज के जीवन को ठीक नहीं कर सके। उन्होंने एक व्यक्ति के शरीर का काया-कल्प करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी, परन्तु वे समाज की आत्मा की कुरूपता को दूर नहीं कर सके। वे एक परमाणु को तोड़ने की सोचते हैं, परन्तु दो परमाणुओं को मिलाकर एक नई शक्ति को उत्पन्न करने के विरुद्ध हैं। परन्तु मैं फिर राजनीति में बहक चल। भला राजनीति और विज्ञान का आपस में क्या सम्बन्ध हो सकता है ! शायद मुझे भी एक वैज्ञानिक-विशेषज्ञ की आवश्यकता पड़ेगी।

सुनते हैं कि अब अमरीकी मनोविज्ञान-विशारद इस परिणाम पर पहुँच गए हैं कि मनुष्य के सारे कष्टों एवं क्लेशों की जड़ और स्रोत उसका मस्तिष्क है। यह मस्तिष्क सोचता है, काम करता है और जीवन की सारी उलझनें पैदा करता है। इसलिये आजकल वे सोच रहे हैं कि

यदि मनुष्य की खोपड़ी में से उसका मस्तिष्क निकालकर उसमें भूसा भर दिया जाए तो कैसा रहे ।

परन्तु यह भी सुना गया है कि रूस फिर इसका विरोध करेगा ।

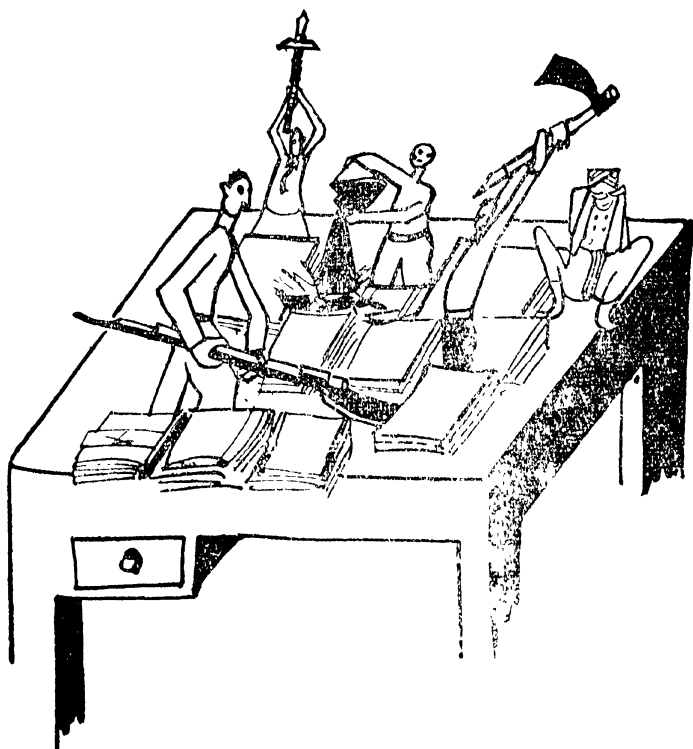
खाद्य-समस्या मेरे विचाराधीन है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भारत में यह समस्या भयंकर रूप धारण कर चुकी है। हम इसके समाधान के लिये कई उपाय काम में ला चुके हैं। सबसे पहले तो हमने



‘टाइम्स आफ़ इंडिया’ और ‘हिन्दुस्तान टाइम्स’ के कालमों में ‘अन्न उगाओ’

का आन्दोलन आरम्भ किया। यह आयोजना साधन नहीं हो सकी, क्योंकि हमारे किसान अंग्रेजी के समाचार-पत्र नहीं पढ़ सकते। और यदि वे पत्र पढ़ने में समर्थ भी होते तो भी वे उन पर हल नहीं चला सकते थे।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यकता तो थी धरती और ट्रैक्टरों की, परन्तु हमने इनके स्थान पर रोटेरी प्रेस का प्रयोग किया। रोटेरी प्रेस निःसन्देह एक उपयोगी मशीन है, परन्तु यह शब्दों के ढेर-के-ढेर तो



उत्पन्न कर सकती है, अन्न का एक दाता भी नहीं उगा सकती। सदा की भांति हमने उल्टे उपायों का प्रयोग किया और परिणाम-स्वरूप

असफल रहे ।

उसके पश्चात् हमने केन्द्रीय और प्रान्तीय मंत्रियों के भाषण और वक्तव्य उत्पन्न किये । फिर विज्ञापन और बड़े-बड़े पोस्टर उत्पन्न किये और फिर अधिकारियों की एक पूरी विशाल सेना । इन अधिकारियों ने कागज और कलम की सहायता से अपनी मेजों पर अन्न उत्पन्न करने का प्रयत्न किया । कागज और कलम हमारे लिये बड़ी काम की वस्तु हैं, परन्तु वे धरती और बीज नहीं हैं ।

अन्न उगाने के लिये हमें धरती की आवश्यकता है और धरती गांवों में होती है दफ्तरों की छतों पर नहीं । इसलिये ये उपाय भी असफल रहे ।

यह स्वतन्त्रता के पहले वर्ष की बात है ।

स्वतन्त्रता के दूसरे वर्ष में हमें एक नया विचार-सूझा । आज भारत को नए विचारों की आवश्यकता है और ऐसे महानुभावों की आवश्यकता है जो नए-नए विचार उत्पन्न कर सकें । पिछले तीन-चार वर्षों से हम इसी प्रकार के नए-नए विचारों पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं ।

चूँकि अन्न की कमी की समस्या का समाधान नहीं हो सका, इसलिये एक नया व्यक्ति एक नया विचार लेकर देश के सामने आया । 'एक समय का भोजन छोड़ दो' का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसे कांग्रेसी मंत्रियों और संसद के सभासदों का आशीर्वाद भी प्राप्त हो गया ।

मैं गरीब आदमी हूँ, इसलिये मैं यह आयोजना, बिना जाने-बूझे आठ नहीने पहले से ही आरम्भ कर चुका था । मैं प्रतिदिन एक समय भोजन करता था । परन्तु मुझे यह पता नहीं था कि इस शुभ काम में मुझे बड़े-बड़े नेताओं और संसद के सदस्यों का आशीर्वाद भी प्राप्त है । अब जब कि मुझे इस बात के ऊँचे आदर्श और महान् परिणाम का पता चला तो मैंने निश्चय कर लिया कि इसे गाँव-गाँव तक पहुँचाकर दम लूंगा । चूँकि हमारे देश की अधिकांश जनता गांवों में निवास करती हैं, इसलिये

इस योजना की सफलता गांवों पर ही निर्भर है ।

जब मैं अपनी योजना लेकर एक गांव में पहुँचा तो मुझे एक विलक्षण अनुभव प्राप्त हुआ । वह गाँव बम्बई से तीस मील की दूरी पर था । जब मैंने लोगों के सामने अपनी योजना रखी और इसके राष्ट्रीय महत्त्व और ऊँचे उद्देश्य पर प्रकाश डाला तो लोगों ने मुझे एक पेड़ से बाँध दिया और कहने लगे—“देखो छोकरे, हम तुम्हारी देश-भक्ति की भावना की सराहना करते हैं, परन्तु एक समय भोजन न करने की योजना पर तो हम पिछले दो सौ वर्षों से चल रहे हैं । कई बार तो हम एक समय नहीं वरन् दोनों समय भूखे रहे हैं । इसलिये अपनी शहरियों वाली चाल यहाँ मत चलो । इस बार तो हमने केवल तुम्हें वृक्ष से बाँधा है, यदि फिर यहाँ आओगे तो हम तुम्हें इस वृक्ष से बांधकर आग लगा देंगे ।”

मेरा अनुमान है कि मेरे जैसे कई युवकों को गाँवों में ऐसा ही सुन्दर अनुभव प्राप्त हुआ होगा । यही कारण है कि इस आन्दोलन का अब कोई शोर सुनाई नहीं देता । इसके अतिरिक्त चूँकि स्वतन्त्रता का दूसरा वर्ष भी व्यतीत हो चका था, हमें किसी दूसरे नये विचार की भी आवश्यकता थी । नहीं तो हमारी जनता को उकताहट अनुभव होने लगती । आपको मालूम होना चाहिये कि हम भारतीय लोग पुराने विचारों से बहुत जल्दी तंग आ जाते हैं ।

स्वतन्त्रता के तीसरे वर्ष में इस समस्या ने सहसा बड़ा विकट और चिन्ताजनक रूप धारण कर लिया । इस स्थिति को वश में लाने के लिये हमें कुछ सख्त कदम उठाने पड़े । उदाहरण के तौर पर हमने अपना खाद्य-मंत्री बदल दिया और श्री. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी को गद्दी पर बिठा दिया । कुछ मूर्ख लोगों ने मुझसे कहा, “इससे भला क्या लाभ होगा ? खाद्य-मंत्री बदल देने से खाद्य-समस्या तो नहीं बदल सकती ।” परन्तु ये बेचारे बेसमझ लोग नहीं जानते कि हमने केवल मंत्री ही नहीं बदला है, वरन् अपनी समस्या को भी बदल डाला है ।

और अब हमें खाद्य-समस्या के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं रही क्योंकि अब हमारे सामने पेड़ों की उपज की यह रफ्तार स्वतन्त्रता की नींव दृढ़ होने की निशानी है। और इसी का नाम 'उन्नति' है। यदि किसी व्यक्ति को यह उन्नति दिखाई नहीं देती तो वह व्यक्ति कम्युनिस्ट है या विदेशी एजेंट। उसे तुरन्त जेल में ठूस देना चाहिये।

श्री मुंशी का 'पेड़ उगाओ' आन्दोलन निःसन्देह एक बहुत बढ़िया विचार पर आधारित है। उसे इस तरह रखा जा सकता है कि अधिक पेड़ों का अर्थ है अधिक वर्षा, अधिक उपज और अधिक उपज का अर्थ है अधिक अन्न। देखा आपने ? हमारी अन्न-समस्या का कितनी आसानी से समाधान हो गया।

किसी ने मुझे बताया कि यह श्री मुंशी का अपना विचार नहीं है बल्कि एक रूसी विचार है। मुझे यह भी बताया गया है कि रूसी लोग 'स्टेप' के संकड़ों मील लम्बे-चौड़े विशाल प्रदेश का जलवायु बदलने के लिये वहां लाखों की संख्या में पेड़ उगा रहे हैं। यह समाचार सत्य हो सकता है, परन्तु हमारे लोग भूल जाते हैं कि जो काम रूसी लोग स्वतन्त्रता के तीस वर्ष बाद कर रहे हैं हम उसे स्वतन्त्रता के तीसरे वर्ष में ही प्रारम्भ कर रहे हैं। और फिर वह भी बिना किसी सार्वजनिक, सामूहिक योजना के।

रूस के नेताओं को अपनी जनता में पहले एक सामाजिक क्रान्ति लानी पड़ी थी। फिर उन्होंने बड़े-बड़े जमींदारों और जागीरदारों की जमींदारियां और जागीरे जब्त करके उनकी सारी भूमि किसानों में बांट दी। फिर उन्होंने सामूहिक कृषि प्रारम्भ की और तीस वर्ष के भरपूर और विविध अनुसंधानों के बाद अब वे अपने 'स्टेप' के ऊबड़-खाबड़, बंजर प्रदेश को उपजाऊ भूमि में बदलने की ओर ध्यान देने लगे हैं।

परन्तु भारत में हम इन प्रारम्भिक समस्याओं को यूँ ही फाँद गए हैं। यहां कोई सामाजिक क्रान्ति नहीं हुई। राजनैतिक क्रान्ति भी नहीं हुई, क्योंकि ऐसी क्रान्तियां हमारे अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। यहां

हमने बड़ी-बड़ी ज़ागीरदारियां और ज़मींदारियां ज़ब्त नहीं कीं—क्योंकि हम व्यक्तिवाद के पक्ष में हैं।

सारांश यह कि हमने पहले ही 'वृक्ष उगाओ' आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जो हमें किसी भी क्रान्ति के भमेले में नहीं डालता, जिसमें बड़े-बड़े ज़मींदारों की ज़मींदारियों को ज़ब्त करने की आवश्यकता नहीं है। सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रकार का आन्दोलन हमें सामूहिक कृषि अपनाने के लिये भी विवश नहीं करता। यह एक सीधी-सादी और सरल योजना है जो आधुनिक स्थिति में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं चाहती।

इसलिये श्री. के. एम मुंशी पर नज़र करने का आरोप लगाने वाले सब लोग भूठे हैं। इसके अतिरिक्त सोवियत योजना और भारतीय योजना में एक और बड़ा अन्तर है जिसे लोग साधारणतया भूल जाते हैं। वह यह कि सोवियत योजना दूसरी योजनाओं की भांति सफल हो जायगी, और हमारी योजना—वह तो पहले ही असफल हो चुकी है।

अब स्वतन्त्रता का चौथा वर्ष लीजिये।

स्वतन्त्रता के चौथे वर्ष में हमें एक नया और अनोखा विचार सूझा। हमने 'अन्न उगाओ' आन्दोलन को उठाकर ताक पर रख दिया है और अपनी शक्ति 'अकाल उगाओ' आन्दोलन की ओर लगा दी है।

यह आन्दोलन अभी बिहार में प्रारम्भ हुआ है। परन्तु मेरा विश्वास है कि शीघ्र ही यह आन्दोलन अन्य प्रान्तों में भी फैल जाएगा। और यह भी विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि चाहे पिछले आन्दोलनों में हम लोग असफल होते रहे हों, इस आन्दोलन में हम अवश्य सफल होंगे।

यह योजना माल्थस के 'अधिक जन-संख्या' के सिद्धान्त पर आधारित है। भारत को अकाल की आवश्यकता है। इसलिये नहीं कि देश में अन्न की कमी है, वरन् इसलिये कि भारत की जनसंख्या बहुत अधिक है।

आप जानते हैं कि औरंगजेब के समय में हम केवल दस करोड़ थे। उसके बाद ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का समय आया। यद्ध आए, अकाल

आए, महामारियां आईं और डेढ़ सौ वर्ष तक विदेशी शासन के पंजे में हम लोग जकड़े रहे। परन्तु इन सारे कष्टों के होते हुए भी हमारी जन-संख्या बराबर बढ़ती रही और सन् १९४७ में हम ४० करोड़ हो गए।

अब इस महान् परन्तु कष्टप्रद संख्या की समस्या को सुलभाने के लिये सबसे पहले तो हमने अपने कृपालु, दयावान् और सहृदय साम्राज्य-वादियों के साथ मिलकर अपने देश का एक भाग अलग कर दिया और एकदम दस करोड़ की संख्या से पीछा छुड़ा लिया। इस चमत्कार का श्रेय हमारे राजनैतिक नेताओं को प्राप्त है। उनकी दूरदर्शिता और तीव्र बुद्धि की कृपा से हम दस करोड़ जनता के बोझ से क्षण भर में ही मुक्त हो गए। यदि देश का विभाजन न होता तो ये दस करोड़ लोग हमें अब तक भोजन, वस्त्र और रोजगार के लिये अत्यन्त चिन्तित करते रहते। पाकिस्तान के कड़े विरोधियों को कम-से-कम यह बात नहीं भूलनी चाहिये।

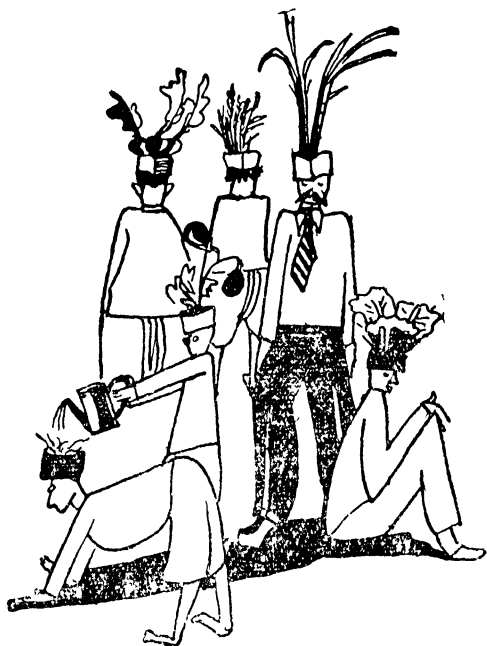
स्वतन्त्रता के चौथे वर्ष में हमारे सारे प्रबन्ध सम्पूर्ण हो चुके हैं।

अंग्रेजी में एक किंवदन्ती है कि किसी वस्तु को प्राप्त करने के तीन उपाय हैं—मांगो, उधार लो या चोरी करो। हमने जनता से मांग की कि अधिक अन्न पैदा किया जाए। परन्तु इसमें हमें कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसलिये फिर हमने प्रयत्न किया कि अमरीका से गेहूँ उधार मिल जाए। इससे भी समस्या का समाधान नहीं हुआ। और तीसरा उपाय चोरी का था। सो चोरी तो जनता की हम इतनी कर चुके हैं कि अब उनके पास कुछ रहा ही नहीं है जिसकी चोरी की जा सके।

तो फिर क्या किया जाए? एक और उपाय हमारे पास रह गया है और वह यह कि यदि हम अपनी जन-संख्या के अनुसार अन्न उत्पन्न नहीं कर सकते तो हमें अपने अन्न के अनुसार अपनी जन-संख्या कम कर देनी चाहिये। सामुदायिक हनन का यह मत अर्थ-शास्त्र के प्रकांड पंडित और महान् दार्शनिक माल्थस का था।

एक दूसरा दार्शनिक और अर्थ-शास्त्र का पंडित भी हुआ है जिसका

कथन था—‘भूमि किसानों को दे दो’, ‘सब लोग काम करो’, और ‘पैदा करो तब प्राप्त करो,’ आदि। परन्तु उसका नाम माल्थस नहीं था, मार्क्स था। वह एक ‘कम्युनिस्ट’ था, और कम्युनिस्ट से हम कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। हमने अपना जीवन-पथ निश्चित कर लिया है। यह पथ मार्क्सवाद का नहीं है, वरन् गांधीवाद और माल्थसवाद का है।



‘अकाल उगाओ’ ! हमसे पूर्व एक सियाने व्यक्ति ने सुभाव दिया था कि ‘अकाल उगाओ’ जैसी कठिन योजना अपनाने से पहले हमें अन्य उपायों और योजनाओं को खोजने का प्रयत्न करना चाहिये। उदाहरण-स्वरूप अन्न की उपज बढ़ाने के लिये भारत में कृषियोग्य भूमि का क्षेत्र-फल बढ़ाना चाहिये। उसका सुभाव था हमें अपनी टोपियों पर अन्न उगाना चाहिये।

उसका कथन यह था कि एक टोपी पर ३६ वर्ग इंच का क्षेत्र काश्त के बिना पड़ा रहता है। यदि इस पर हम कुछ मिट्टी डालकर पानी छिड़क दें तो यह क्षेत्र अन्न उगाने के काम आ सकता है। और मिलाकर यह क्षेत्र-फल कुछ कम नहीं होगा।

तीस करोड़ भारतीयों को तनिक ध्यान में लाइये जिनमें से प्रत्येक के सिर पर ३६ वर्ग इंच का खेत होगा। कुल मिलाकर यह क्षेत्रफल इंग्लैंड के बराबर होगा। इन खेतों पर हम गेहूँ, दालें, चावल, गन्ना, आदि बो सकते हैं। यहाँ हम साग-भाजियों की छोटी-छोटी क्यारियां भी लगा सकते हैं जिनमें गोभी, बैंगन, शलजम, भिंडी, आलू आदि उगाए जा सकते हैं। और मजे की बात यह है कि यह सब कुछ हमारे सिरों पर उग सकेगा—कारमैन मिरांडा की भांति।

मेरे इस प्रतिभाशाली मित्र ने कहा कि “वास्तव में मैंने यह विचार कारमैन मिरांडा से ही प्राप्त किया है—मिरांडा जो हॉलीवुड की विख्यात सिनेमा-अभिनेत्री है।” मैंने उत्तर दिया, “यह बहुत अच्छी बात है। यदि हमें अमरीकन गेहूँ नहीं मिल सकता तो हमें अमरीकी विचार तो उपलब्ध हो सकते हैं। इसमें बुराई ही क्या है। तो आओ हम पहले मिनिस्ट्रों का आशीर्वाद ले लें और इस आन्दोलन का श्रीगणेश कर दें। हमारी पवित्र स्वतन्त्रता तथा ‘पल्लिक सेफटी ऐक्ट’ के कारण भारत में किसी भी योजना एवं आन्दोलन को तब तक सफलता प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि उसे राज्य के मंत्रियों का आशीर्वाद प्राप्त न हो जाए।”

परन्तु मेरे मित्र ने निराशापूर्वक सिर हिलाते हुए कहा “इसमें एक अड़चन है। मुझे डर है कि हमारे मंत्री इस विचार एवं योजना से सहमत नहीं होंगे। क्या तुम कल्पना कर सकते हो कि कोई मंत्री अपनी टोपी पर टमाटर, प्याज, पटसन या कपास उगाना पसन्द करेगा ?”

“नहीं!” मैंने उत्तर दिया। और हमने इस योजना को त्याग दिया।

अकाल उगाओ’ योजना के सम्बन्ध में मैं जितना अधिक सोचता हूँ, मुझे यह योजना उतनी ही अधिक उचित और उत्तम लगती है। यदि हम जमींदारों, जागीरदारों, चोर-बाजारी करने वालों, और साम्राज्य-वादियों को समाप्त नहीं कर सकते तो आओ हम अकाल के द्वारा जनता को समाप्त कर डालें। यदि हम कुछ अकाल ऐसे उत्पन्न कर सकें जैसा

कुछ वर्ष पूर्व बंगाल में आया था तो हमारी समस्या का हल कुछ ही दिनों में हो सकता है।

परन्तु बंगाल के अकाल में केवल ३५ लाख लोग मरे थे। यह तो कुछ भी नहीं था। इससे हमारी कठिनाई दूर नहीं होगी। इसलिये इस बार तो एक ऐसा महा-बलवान्, चिंघाड़ता, दहाड़ता हुआ अकाल लाना चाहिये जिससे कम-से-कम करोड़ों लोग मर जाएं हमें तो एक प्रकार के अहिंसात्मक, गांधीवादी परमाणु-बम की आवश्यकता है। इससे धरती का बोझ हल्का हो जाएगा और हमारे महान्, देशभक्त जागीरदार, जमींदार आदि सुख-पूर्वक रह सकेंगे।

यदि इस बेबी अकाल से भी जनता की वांछित संख्या इस धरती से नहीं उठती तो हम कई अन्य सहायक उपायों का प्रयोग कर सकते हैं।
उदाहरणतया—

- (१) किसान आन्दोलनों को समाप्त कर डालो।
- (२) विद्यार्थियों के आन्दोलनों को समाप्त कर डालो।
- (३) सब विरोधी दलों को नष्ट कर डालो।

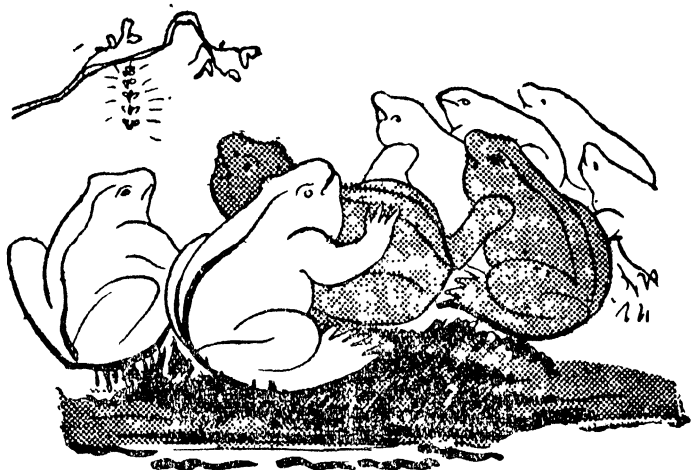
मुझे विश्वास है कि यदि ये सब उपाय हम एक-साथ उपयोग में लाएँगे तो हम शीघ्र ही सब कठिनाइयों और समस्याओं पर विजय प्राप्त कर लेंगे। परन्तु इस योजना की सफलता मृत्यु की संख्या पर निर्भर है।

मुनते हैं कि चीन में भी इन सब उपायों को प्रयोग में लाया गया था। परन्तु वे लोग असफल रहे। उन्होंने तो साथ-ही-साथ युद्ध के उपाय का भी प्रयोग किया। फिर भी जनता बढ़ती ही चली गई। कोमिन्तांग, अमरीकी हस्ताक्षेप, भूख और महामारियों के होते हुए भी चीनी जनता शक्तिशाली होती चली गई। और मुनते हैं कि जनता भारत में भी शक्ति प्राप्त करेगी, क्योंकि जनता अमर है।

बहुत दिनों के बाद भील के किनारे आज फिर बसन्तका आनन्द छाया। किनारे से देखने वाले व्यक्ति को यही प्रतीत होता था कि बहुत से मेंढक भील के किनारे बंठे हुए टर्रा रहे हैं, परन्तु वास्तविक बात यह नहीं थी। वास्तविक बात यह थी कि आज बड़ा मेंढक बड़े महल से छूटकर आया था, इसलिये उसकी धर्मपत्नी पुखराज और तीन बेटों—टम्पू, जम्पू और भौंपू—ने भील के किनारे सारे मेंढकों को सहभोज के लिये आमंत्रित किया था। इस दावत में सम्मिलित होने के लिये दूर-दूर से मेंढक आए थे और उछल-उछलकर बड़े मेंढक से, जिसका नाम बसन्तरूप था, गले मिल रहे थे। पुखराज ने बड़ी भाड़ी की एक शाखा से जुगनुओं की एक लालटेन लटका रखी थी, जिसकी ठंडी रोशनी में उसका पीला-पीला चेहरा आनन्द-विभोर होकर जगमग-जगमग कर रहा था।

सहभोज के पश्चात् सारे मेंढक आलती-पालती मारकर गोल बायरे में बसन्तरूप के चारों ओर बैठ गए और उससे बड़े महल की बातें पूछने लगे, क्योंकि अब तक कोई मेंढक उस बड़े महल के अन्दर, जो भील के उत्तरी किनारे पर स्थित है, नहीं जा सका था। महल के बाग तक तो बहुत से मेंढक हो आए थे और महल की संगमरमर की सीढ़ियों तक पाँव रख चुके थे, परन्तु अन्दर जाने का साहस अब तक किसी मेंढक में नहीं हो पाया था। बसन्तरूप पहला मेंढक था जो महल के अन्दर जाकर वापस आगया था। इसलिये सारे मेंढक यह जानने के लिये अत्यन्त

उत्सुक थे कि बड़े महल के अन्दर क्या होता है ।



सबसे पहले भील के बहुत बड़े मेंढक ने, जिसकी आवाज़ सहगल जैसी मधुर और रसीली थी, प्रश्न किया, “जब तुम महल के अन्दर गए तो तुमने क्या देखा?” बसन्तरूप ने कहा, “दादा ! पहली बात तो यह है कि यह कहना असत्य है कि मैं महल के अन्दर गया । मैं तो वास्तव में महल की सीढ़ियों पर लेटा हुआ धूप सेंक रहा था । धूप तेज़ थी और सीढ़ियों का संगमरमर ठंडा । इसलिये मैं लेटा हुआ जीवन का आनन्द ले रहा था । मेरे पेट की खाल में ठंडक की लहरें दौड़ रही थीं और कमर की खाल धूप की गर्मी का आनन्द ले रही थी । तुम जानते ही हो कि मेंढक जाति जीवन के दोनों आनन्द लेना जानती है—पानी के अन्दर और पानी के बाहर ।”

हरितरूप मेंढक ने उठकर कहा, “तुम अपना दर्शन-शास्त्र न बखानो । सीधे-साधे महल का हाल बताओ ।” यह सुनकर बसन्तरूप ने हरितरूप को धूरकर देखा । यह स्पष्ट प्रकट था कि इन दोनों मेंढकों में कोई विशेष मित्रता नहीं थी । बसन्तरूप जानता था कि विवाह से पहले हरितरूप उसकी पत्नी पुखराज से प्रेम करता था । इसलिये उसने व्यंग

से कहा, “ओ हरिये ! मैं जानता हूँ तुम्हें मेरी बातें अच्छी नहीं लगेंगी, क्योंकि मैं फिर जीवित-जाग्रत अवस्था में भील के किनारे वापस आ गया हूँ।”

पुखराज ने जुगनू की लालटेन जोर से हिलाई और जुगनू चमचम करके चमकने लगे। पुखराज ने अपना सुन्दर मुख अपने पति की ओर घुमाकर कहा, “प्यारे ! बहुत से बड़े-बड़े मैंढक तुम्हारी बातें सुनने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। तुम इस कम्बख्त हरिये की परवाह न करो और आनन्दपूर्वक अपनी कहानी सुनाओ।”

पुखराज की बात सुनकर हरितरूप अपने गले में टर्राकर रह गया। उसके गले से एक ऐसी आह निकली जो ताल और स्वर के हिसाब से उस्ताद फैयाज़ खाँ के घराने से सम्बन्ध रखती थी। परन्तु फिर उसने उस आह को अपने हृदय में ही दबा लिया और आँखें नीची करके बैठ गया।

बसन्तरूप ने बात की शृंखला को दोबारा जोड़ते हुए कहा, “तो मैं कह रहा था कि मैं महल की सीढ़ियों पर लेटा हुआ धूप सेंक रहा था और अर्ध-जाग्रत, अर्ध-स्वप्न अवस्था में था कि इतने में मुझे ऐसा लगा मानो किसी ने मुझे अपनी मुट्ठी में दबोच लिया हो। मैंने अपनी अर्ध-निमीलित आँखें खोलیں तो अपने आपको महल के राजा के सबसे छोटे लड़के की मुट्ठी में पाया। मैं ज्यों-ज्यों अपने-आपको उसकी मुट्ठी से निकालने का प्रयत्न करता, वह दुष्ट लड़का जोर-जोर से हँसता। उसकी हँसी उस समय मुझे बड़ी भयानक और निर्दयतापूर्ण लग रही थी। और जब उसने अपनी अंगुलियाँ मेरी पसलियों में खुबो दीं तो मैं एकदम ढीला पड़ गया। फिर वह अपनी मुट्ठी में ही मुझे महल के अन्दर ले गया। उसने मेरे शरीर को पूरे बल के साथ पकड़ रखा था, परन्तु मेरा मुँह उसकी मुट्ठी से बाहर था, इसलिये मैं महल के चौक, बरामदे, खम्बे, बड़े-बड़े विशाल कमरे और उनके अन्दर रखा हुआ सामान बड़ी अच्छी तरह देख सकता था। प्रत्येक कमरे में सुन्दर गालीचे बिछे हुए थे।”

“गालीचे क्या होते हैं ?” टम्पू ने पूछा ।

बसन्तरूप ने कहा, “बेटा ! वे लोग कमरों के फर्श पर गालीचे बिछाते हैं । ये बड़े नरम और गुदगुदे होते हैं ।”

टम्पू ने पूछा, “क्या गालीचे हमारी झील के कीचड़ से भी अधिक नरम और मुलायम होते हैं ?”

बसन्तरूप ने कहा, “अरे बेटे ! यह असम्भव जाति हमारी कीचड़ जैसा नरम और मुलायम गालीचा सात सौ वर्ष तक भी नहीं बना सकती । परन्तु वैसे गालीचा विशेष बुरा भी नहीं होता । मुझे उसका रंग तो वास्तव में बहुत पसन्द आया । हमारी कीचड़ में तो एक ही रंग होता है । परन्तु उन गालीचों में भाँति-भाँति के रंग थे, जो झील के फूलों की तरह चमकते थे ।

“मुझे वह लड़का दीवानखाने में ले गया, जहाँ राजा हिम्मतीसिंह उसकी सात रानियाँ, तीन बड़े लड़के और आठ-दस अन्य व्यक्ति बैठे हुए थे । छोटा लड़का मुझे मुट्ठी में दाबे-दाबे चुपके से एक जगह बैठ गया और फिर जब वे लोग अपनी बातों में व्यस्त हो गए तो उसने चुपके से मुझे एक रानी की गोद में छोड़ दिया । फिर मैंने वहाँ से तीन गज की



छलांग जो लगाई है तो सारे दीवानखाने में हल्ला मच गया । राजा हिम्मतीसिंह डर के मारे धरती पर गिर पड़े और रानियाँ चीखने लगीं

और इधर-उधर दौड़ने लगीं। हा हा हा ! ये लोग हमारी जाति से कितने डरते हैं।”

बहुत से मेंढक हँसने लगे। भूरा ने सिर उठाकर कहा, “मैं जानता हूँ मनुष्य ऊपर से बहादुर बनता है परन्तु अन्दर से बड़ा कमजोर होता है। और पानी में तो उसके प्राण ही निकलने को हो जाते हैं। अरे, यह क्या खाकर मेंढक का मुकाबला करेगा !”

बसन्तरूप ने फिर बात की शृंखला को जोड़ते हुए कहा, “उसके बाद जो हड़बौंग मची उसका तो वर्णन हो ही नहीं सकता। बीस-तीस आदमी मेरे आगे-पीछे दौड़ रहे थे, परन्तु मैं किसी के वश में न आता था। राजा हिम्मतीसिंह के मुँह से क्रोध के मारे भाग उठ रही थी। अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे चिल्ला रहे थे—‘अरे छोड़ना नहीं, देखना जाने न पाए।’ अब मैंने छलाँग लगाई और राजा साहब के सिर पर सवार हो गया। फिर क्या था ! राजा साहब वहाँ से उठकर भागे। मैंने वहाँ से फिर छलाँग लगाई और एक दूसरे कमरे में पहुँच गया। अब राजा साहब के छोटे लड़के ने अन्दर से द्वार बन्द कर दिया और मुझे पकड़ लिया। परन्तु मैंने भी बच्चा जी को बहुत परेशान किया। ऐसे थोड़े ही वश में आने वाला था मैं ?”

“शाबाश ! शाबाश !” बहुत से मेंढक एकदम चिल्लाए।

पुखराज गर्व से अपने पति की ओर देखने लगी।

“फिर क्या हुआ ?” भूरा ने पूछा।

“फिर मुझे उस वृष्ट लड़के ने एक टोकरी में बन्द कर दिया। जिसमें मैं फुदक-फुदककर रह गया। टोकरी बहुत मजबूत थी और यद्यपि उसमें दो सूराले थे, परन्तु वे इतने बड़े नहीं थे कि मैं उनमें से बाहर निकल सकता।”

“तुम उसमें कितने दिन बन्दी रहे ?” दादा ने पूछा।

“दस दिन और दस रातें। परन्तु रातें बहुत व्याकुल करती थीं। जब लड़का अपने कमरे की खिड़की खोल देता था तो भील से आप

लोगों के टराने की आवाज़ आती थी। उस समय जो कुछ मेरे मन पर बीतती थी उसका वर्णन करने की शक्ति मेरी जिह्वा में नहीं है।

पुखराज की गोल-गोल अबोध-शिशु जैसी आँखों में आँसू धिराए।

एक मेंदकी ने, जिसकी पीठ पर हरी और पीली धारियाँ थीं और जो भील में सबसे अधिक सुन्दर समझी जाती थी और जिसका नाम जरीफ़ा था प्रश्न किया, “तुमने उनलोगों की मेंदकियाँ देखी होंगी। क्या वे बहुत सुन्दर होती हैं?”

“छिः ! उनकी मेंदकियाँ तो अत्यन्त भौंडी होती हैं।” बसन्तरूप ने उत्तर दिया। “वे अपने चेहरे की कुरूपता को छिपाने के लिये चेहरों पर



रंग मलती हैं और अपने शरीर की कुरूपता को छिपाने के लिये रंग-बिरंगे कपड़े पहनती हैं।”

“छिः छिः !” जरीफ़ा ने घृणा प्रकट करते हुए कहा।

बसन्तरूप ने इधर-उधर देखकर धीरे से कहा, “हैं तो ऐसा कहना सभ्यता के विरुद्ध, परन्तु सच्ची बात कहनी ही पड़ती है। उनकी मेंदकियाँ अंडे नहीं, बच्चे जनती हैं और उसी समय से उन्हें अपने शरीर से दूध पिलाती हैं।”

यह सुनकर बहुत-सी मेंदकियों ने घृणा से मुँह सिकोड़ लिये।

बसन्तरूप ने कहा, “उनमें प्रेम करने की रीति बहुत बुरी है। हमारी तरह नहीं कि तैरते-तैरते भील के बीच में मिल गए और कमल के फूल पर बैठकर चांदनी रात में धीरे-धीरे टराने लगे। वे लोग तो

बड़े गन्दे होते हैं। जब वे एक-दूसरे से प्रेम करते हैं तो एक-दूसरे के होंठ चूमते हैं।”

“हाय हाय ! कितनी गन्दी, असभ्य, वहशी रस्म है !” यह कहकर जरीफ़ा ने घृणा से थूक दिया। उसे सचमुच मनुष्य-जाति से घिन आने लगी थी।

“और उस पर तुरा यह कि ये मेंढ़क को भौंडा और असभ्य समझते हैं।” बसन्तरूप ने घायल गर्व के साथ कहा, “और स्वयं उनका यह हाल है कि उन्हें सभ्यता छू तक नहीं गई। आकृति देखो तो ऊबड़-खाबड़। पुरुषों के तो सारे शरीर पर बाल उगे रहते हैं और मुख पर मूँछ और वाढ़ी होती है। और स्त्रियां अपने सिरों पर बहुत लम्बे लम्बे बालों का झुंड-सा उगाती हैं।”

यह सुनकर जरीफ़ा और शरीफ़ा दोनों चीख पड़ीं और कहने लगीं, “अरे, ये पशु हमारी भील पर आ जाएं तो हम तो कभी इन्हें अपने मुँह न लगाएं।”

“निःसन्देह !” हरितरूप ने गम्भीरता से कहा, “हमारी जाति की स्त्रियां अत्यन्त सुन्दर हैं। संसार की कोई जाति सुन्दरता और शूरवीरता में हमारा मुकाबला नहीं कर सकती।”

उसके बाद कुछ क्षणों तक पूर्ण निस्तब्धता छाई रही। जरीफ़ा, शरीफ़ा, नीलिमा, पुखराज आदि मेंढ़कियां भील के पानी में अपना प्रतिबिम्ब देख-देखकर आनन्द-विभोर होती रहीं।

फिर बसन्तरूप बोला, “अब चूंकि मनुष्य जाति की मेंढ़कियों के सम्बन्ध में बातचीत हो रही है, इसलिए इस सम्बन्ध में दो और बातें कहकर मैं उनका वर्णन पूरा कर देना चाहता हूँ। एक तो यह कि राजा के महल में मैंने उनकी मेंढ़कियों को बहुधा बेवफ़ा पाया—मेंढ़कियों को भी और उनके मेंढ़कों को भी। ये लोग ऊपर से प्रेम जताते हैं परन्तु अन्दर से किसी अन्य व्यक्ति से प्रेम करते हैं। अब राजा हिम्मत सिंह को ही ले लो। उसकी सात मेंढ़कियां हैं !”

“सात !” नीलिमा ने क्रोध और आश्चर्य के मिश्रित भावों से कहा ।

दादा बोले, “एक मेंढ़क एक समय में केवल एक ही मेंढ़की से विवाह कर सकता है, ऐसी हमारी परिपाटी है । इसमें छोटे-बड़े का कोई भेद-भाव नहीं । संसार की सारी मेंढ़कियां और मेंढ़क समान है ।”

“परन्तु संसार के सारे मनुष्य समान नहीं हैं दादा !” बसन्तरूप ने बड़ी कटुता से कहा । “तुमने कभी देखा है कि एक मेंढ़क दूसरे मेंढ़क को खा जाए ? क्या कभी ऐसा हो सकता है ? एक मेंढ़क एक मच्छर को खा लेता है और एक भगरमच्छ एक मेंढ़क को खा जाता है, परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ और न ही ऐसा कभी हो सकता है कि एक मेंढ़क दूसरे मेंढ़क को खा जाए ।”

“नहीं, कभी नहीं, यह तो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है ।” चारों ओर से मेंढ़क टर्काए ।

“परन्तु मनुष्यों में ऐसा ही होता है । एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को खा जाता है, उसका लहू पीता है, उसे दास बनाकर रखता है और जो व्यक्ति यह पाप जितनी अधिक मात्रा में करता है वह उतना ही बड़ा समझा जाता है ।”

“हमारे यहां तो बड़ाई, समझ-बूझ, बुद्धि, अनुभव और तैरने से आती है ।”

“परन्तु उनके यहां ऐसा नियम नहीं है । उनके यहां जो आदमी जितना अधिक दूसरों का उपयोग अपने लाभ के लिए करे वह उतना ही अधिक बुद्धिमान और चतुर समझा जाता है ।”

“वह तो अन्याय और अत्याचार है ।” बूढ़ा मेंढ़क क्रोध में गरज कर बोला ।

“इस अन्याय के कारण पुरुष निर्दयी हो जाते हैं और उनकी मेंढ़कियां बेवफा हो जाती हैं । गरीब लोग पिटते हैं और राजा की रानियां अपने नौकरों से प्रेम करती हैं । एक बार मैंने स्वयं अपनी आंखों से

राजा की एक लड़की को महल के सुन्दर तालाब में एक लड़के को छेड़ते हुए देखा था ।”

“छिः छिः !” पुखराज अपनी गोल-गोल आंखों को घुमाते हुए बोली, “यह तो नितान्त निर्लज्जता है ।”

“इसका तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उन लोगों को सभ्यता छू तक नहीं गई ।” कालेकर बोला ।

कालेकर जिस मैंदक का नाम था वह भील का सबसे विद्वान् था । मैंदकों की भाषा पर जितना अधिक उसे अधिकार था, उतना अन्य किसी मैंदक को नहीं था । वह प्रत्येक प्रकार की टर्नाहट और उसकी बारीक स्वर-सहरी से परिचित था । मैंदक-बालकों को वही टर्ना सिखाता था । वह उन्हें सिखाता था कि हर्ष के समय कौन-सी टर्नावली प्रयुक्त करनी चाहिये और शोक के समय कौन-सी । अपने मां-बाप से किस तरह बात करनी चाहिये । मैंदकों के लिए प्रेम की शब्दावली क्या होती है वह उसे भलीभांति जानता था । उसने पूछा, “भाई बसन्तरूप ! मनुष्य की भाषा के सम्बन्ध में तुम क्या कहते हो ?”

“मान्यवर !” बसन्तरूप ने उदासी से सिर झुकाकर उत्तर दिया, “मनुष्य की दो भाषाएं होती हैं ।”

“दो भाषाएं !” कालेकर ने आश्चर्यचकित होकर कहा—“यह असम्भव है । संसार में प्रत्येक जाति की एक ही भाषा होती है—केवल एक भाषा ।”

“परन्तु मनुष्य की दो भाषाएं होती हैं—एक तो वह जिसे वे बोलते हैं और दूसरी वह जिसे वे मन में रखते हैं । वे शब्द जो उनके मन में होते हैं, प्रायः जिह्वा पर नहीं आते और जो शब्द वे जिह्वा से बोलते हैं, समझ लीजिये कि वे उनके मन की वास्तविक भावना के बिन्दु हैं ।”

“वह कैसे ? मैं समझा नहीं भाई ।”

“मान्यवर !” बसन्तरूप ने बात को स्पष्ट करते हुए कहा, “छोटे

राजकुमार की मां ने उससे कहा कि तू इस बेचारे मेंढ़क को छोड़ दे । राजकुमार ने कहा—‘अच्छा मां, मैं इसे अभी छोड़ देता हूँ ।’ परन्तु यह वचन देकर भी उसने मुझे मुक्त नहीं किया, बरन् एक टोकरी से दूसरी टोकरी में और एक कमरे से दूसरे कमरे में बदल दिया ।”

वसन्तरूप ने दूसरा उदाहरण देते हुए कहा, “राजा ने मेरे सामने एक किसान से कहा—‘जा, हम तेरा लगान छोड़ते हैं ।’ इसके बाद जब किसान चला गया तो राजा ने मुंशी से कहा—‘जा, इसकी धरती कुर्क करा ले ।’

“तीसरा उदाहरण लीजिये । राजा के बड़े लड़के ने एक लड़की से कहा—‘मुझे तुमसे असीम प्रेम है—इतना प्रेम आज तक मुझे किसी अन्य लड़की से नहीं हुआ ।’ लड़की ने कहा—‘प्यारे ! मेरे हृदय में केवल तुम ही तुम समाए हो ।’ इसके बाद लड़का और लड़की दोनों महल में तैरते रहे और कभी-कभी एक-दूसरे के होंठ से होंठ मिलाते रहे । फिर मैंने उस लड़के को महल की एक दासी से भी यही वाक्य कहते सुना और उस लड़की को भी एक अन्य लड़के से इसी प्रकार की बातें करते और होंठ से होंठ मिलाते देखा ।

“अब चौथा उदाहरण देता हूँ । राजा हिम्मतसिंह ने बड़े जागीरदार भीमसिंह की दास्यता की थी । भीमसिंह के कोई सन्तान नहीं थी । मेरे सामने राजा हिम्मतसिंह उस बूढ़े जागीरदार से हँस-हँसकर बातें करता रहा और फिर मेरे सामने उसने शराब में विष मिलाकर उसे दे दिया, ताकि उसकी जागीर पर अधिकार कर लें ।

“एक और उदाहरण लीजिये । परन्तु इन उदाहरणों को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होगा । सारांश यह है कि उनके मन में कुछ और शब्द होते हैं और जिह्वा पर कुछ और । इसे वे लोग ‘सभ्यता’ के नाम से पुकारते हैं ।”

कालेकर ने कहा, “परमात्मा का लाख-लाख धन्यवाद है कि मेंढ़क जाति को केवल एक ही भाषा आती है ।”

“परमात्मा का लाख-लाख धन्यवाद है।” बहुत से मेंदकों ने टर्रा कर कहा।

इसके बाद कुछ क्षणों तक मौन छाया रहा। फिर दादा ने पूछा, “खैर, अब यह तो बताओ कि तुम उस नरक से निकले कैसे?”

बसन्तरूप ने मुस्कराकर कहा, “धीरे-धीरे मैं छोटे राजकुमार से हिल-मिल गया—वह मुझे नित्य प्रति भोजन खिलाता था। इसलिए यह स्वाभाविक बात थी कि अब मुझे उसके शरीर से मिलकर घिन नहीं आती थी। न मुझे अब उसकी हथेली से घृणा होती थी। मैं प्रायः अब उसके कमरे में फुदकता रहता और कमरे से बाहर न निकलता। राजकुमार मुझसे बातें करता रहता और मैं उत्तर में टर्राता रहता। फिर राजकुमार मुझे बाहर भी ले जाने लगा। एक बार जब हम दोनों तालाब में नहा रहे थे तो एक रानी ने हमें देख लिया और वह जो चीखी है—जो चिल्लाई है—वस आकाश सिर पर उठा लिया—मेंदक मेरे तालाब में कहाँ से आ गया?”

“अब पूछो भला मेंदक तो पानी का जीव है, फिर तालाब मनुष्य का कैसे हो गया, जो धरती पर उत्पन्न होता है, धरती पर सोता है, धरती पर रहता है और धरती पर मरता है। तो साहब, उस रानी ने मेरे पीछे बो-चार नीकर लगा दिये और मैं जो तालाब से उछलकर भागा हूँ तो महल के चौक को फांदता हुआ बरामदों में से छलांग लगाता हुआ बाहर उद्यान में आ गया। आगे मार्ग खुला था। और यह तो तुम जानते हो कि दौड़ने-भागने में और छलांग लगाने में मनुष्य कभी मेंदक का मुकाबला नहीं कर सकता।”

“और गाने में? गाने के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है?” शरीफ़ा ने जो गायन-विद्या में बड़ी निपुण थी, प्रश्न किया।

“गाने की बात तो छोड़ ही दो। ये मनुष्य तो ऐसे बेसुरे होते हैं कि बाजों के बिना गा ही नहीं सकते। संगीत-कला तो अब मेंदकों तक ही सीमित रह गई है। इस कला के हम ही उत्तराधिकारी हैं।”

“निःसन्देह ! यह ठीक कहा आपने ।” बहुत से मेंढक एकदम बोल उठे और गाने लगे—

“हम मेंढक हैं, हम मेंढक हैं, हम मेंढक हैं !”

जब यह टर्राहट समाप्त हुई तो कुछ क्षणों के लिये सभा में सन्नाटा छाया रहा । अन्त में दादा ने प्रश्न किया—“और सब बातें तो सुन लीं, अब एक बात पूछनी है । तुम मेंढक और मनुष्य दोनों में अन्तर देख चुके हो और दोनों की तुलना कर चुके हो । अब यह बताओ कि तुम्हारे विचार में मनुष्य बड़ा है या मेंढक ?”

कुछ क्षणों तक चुप रहने के पश्चात् बसन्तरूप ने अपना भुका हुआ सिर उठाया और उत्तर दिया—“मनुष्य ।”

“वह कैसे ?”

बसन्तरूप ने कहा, “मैंने अपनी कहानी का अन्तिम भाग तो सुनाया ही नहीं । जब मैं उद्यान में पहुँचा तो उस समय तक बहुत से नौकरों का दम फूल गया था और मुझे पकड़ने की आशा उन्होंने छोड़ दी थी । परन्तु सबसे छोटा राजकुमार जो मुझसे इतना हिल-मिल गया था, अब भी मेरे पीछे-पीछे भागता रहा । वह भागता हुआ भील के किनारे तक आया और जब मैंने घड़ाम से भील में छलांग लगाई तो वह पानी के किनारे खड़ा-खड़ा दोनों बाहें फैलाए हुए बड़े विनीत भाव से कहने लगा— ‘आजा, ओ मेरे प्यारे मेंढक, वापस आजाओ । मैं अब तुमको कभी नाराज नहीं करूँगा । मैं तुमको बहुत-बहुत प्यार करूँगा ।’ और जब वह यह कह रहा था तो उसकी आँखों में आँसू थे, और इसीलिये मनुष्य मेंढक से बड़ा है क्योंकि मनुष्य रो सकता है, मेंढक रो नहीं सकता । मनुष्य अपनी दुष्टता, बेवफाई, झूठ, धोखे आदि के बावजूद रो सकता है, परन्तु मेंढक नहीं रो सकता । इसलिये मैं समझता हूँ कि मनुष्य मेंढक की अपेक्षा बड़ा है ।”

सभा में बहुत देर तक चिन्तितता छाई रही । फिर कुछ कहे-सुने बिना सभा विसर्जित होगई । एक-एक करके मेंढक उठे और भील में

छलांग लगाने लगे। टम्पू, जम्पू और भोंपू भी चांदनी रात में नहाने के लिये चले गए। अन्त में केवल बसन्तरूप और उसकी सहचरी पुखराज भील के किनारे रह गए। झाड़ी की शाखा से जुगनुओं की लालटेन जगमगा रही थी।

पुखराज ने एक मोहक अदा के साथ बसन्तरूप की ओर देखकर कहा, “यदि मैं तुम्हारे बाद हरितरूप से विवाह कर लेती तो ?”

बसन्तरूप बोला, “लो भई, मेंढ़की को भी जुकाम होने लगा।”

“जुकाम ? यह क्या कह रहे हो तुम ?”

“पता नहीं, मैंने तो वहाँ महल में लोगों से ये शब्द सुने थे।”

“शूठ कहते हैं सिरफिरे। हम तो पानी में रहते हैं, फिर हमें जुकाम क्यों होगा ! जुकाम होगा उन शू-शू करते हुए नकसड़ों को।” यह कहकर उसने फिर एक चित्ताकर्षक अदा से बसन्तरूप की ओर देखा और फिर एकदम छलांग लगाकर भील के पानी में घुस गई। बसन्तरूप जोर से टर्राया और फिर भील में घुस गया और दोनों देर तक साथ-साथ तैरते फिरते रहे।

चांदनी रात थी और उनके चारों ओर कमल के फूल थे।

पहला दृश्य

[मिस बेला घड़ी की ओर देखती है। ड्राइंग-रूम में लगे हुए इस पुराने क्लॉक में ११ बज रहे हैं। मिस बेला पुस्तक पटक कर जम्भाई लेती है और उठकर शीशे की ओर जाती है। उसने मादाम फ्रावा की बनाई हुई नई फ्रांसीसी गाउन पहन रखी है। यह लिबास जो नीचे से समुद्र की लहरों की भाँति मचलता-फिसलता हुआ शुरू होता है और छाती की ओर बढ़ता हुआ तंग होता चला जाता है। छाती पर सफेद-सफेद रेशमी झालरें इस तरह इकट्ठी हो गई हैं जैसे लहरों पर भाग चमक रही हो। बेला की गरदन ने मोतियों की सततड़ी है और कानों में हीरे। उसने केशों को अजन्ता के एक पुराने फैशन के ढंग पर सजाया है जिससे सिर के आधे भाग पर छोटी दिखाई पड़ती है और आधे पर घाटियाँ और पीछे पुच्छलदार सितारा। वह नित्य की भाँति आज भी एक नए रूप में सजी हुई है। वह चेहरे से उपर केशों में दो सहस्र वर्ष पुरानी, कमर से ऊपर कंवारी और कमर से नीचे छः बच्चों का मां दिखाई देती है। सारांश यह कि वह अत्यन्त फैशनेबल, बल्कि 'अल्ट्रा-मार्डन', दिखाई देती है। पूर्णतया उस मिखी मूर्ति की भाँति जो मादाम फ्रावा की दूकान की खिड़की में नित्य-प्रति एक नया लिबास पहने खड़ी रहती है।

एलिजा जो बेला से अधिक सुन्दर चंचल और होशियार है, बेला के उठने पर उसके पांवों की ओर झुकती है—उसका अभिवादन करने

के लिये नहीं, वरन् उसके गाउन की उलभी हुई निचली लहरों को सुलभाने के लिये । बेला उसे ऐसा करने देती है और स्नेह युक्त दृष्टि से उसकी ओर देखकर मुस्कराती है । इतने में बेला का 'बटलर' जो आग्रह से बेला का नौकर नहीं वरन् उसका बाप मालूम होता है, बड़े रस भरे ढंग से द्वार पर आकर कहता है—]

बटलर—जमशेद जी आए हैं ।

बेला—(शीशे के सामने से हटकर) उन्हें अन्दर भेज दो । (एलिजा से)
बस अब ठीक है । (एक अदा दिखाकर) देख एलिजा, मैं कैसी लग रही हूँ ?

एलिजा—ताजा और खिले हुए फूल जैसी—मानो अभी नहाकर आई हो । (चुपके से) वे आगए, मैं जाती हूँ ।

जमशेद—(बेला से) हैलो पट्टो !

बेला—(जमशेद से) हैलो, जिकजिक !

जमशेद—(एलिजा से) हैलो, छम छम ! कैसी हो ?

एलिजा—अच्छी हूँ, सरकार !

[एलिजा द्वे और गिलास उठाकर द्वार से बाहर चली जाती है ।
जमशेद उसको तकता रहता है । जब वह द्वार से बाहर हो जाती है तो एक दम पलटकर बेला को बाहुपाश में लेकर कहता है—]

जमशेद—तुम्हारी एलिजा की चाल बहुत अच्छी है । कैसी छम छम करती हुई चलती है ।

बेला—बस कल इसे निकाल दूँगी...हटो, छोड़ दो मुझे ।

जमशेद—डार्लिंग ! ऐसा मत करना । मैं तुमसे शादी इसीलिये कर रहा था कि दोहरा लाभ रहेगा । तुम्हारे साथ तुम्हारी नौकरानी भी...(हँसता है) समझ गई ?

बेला—जमशेद, कभी तो गम्भीरता से बात किया करो । जानते नहीं कैसा समय आ रहा है । सारों ओर आग-सी खग रही है ।

जमशेद—हमारी क्लब तो सुरक्षित है ।

बेला—माना तुम करोड़पति हो । परन्तु ऐसी भी मस्ती क्या ? जब देखो क्लब, डान्स, डिनर, पिकनिक । कुछ काम-धन्धे की भी तो सोचा करो ।



जमशेद—बाप घोर-बाजारी करता है, बेटा प्रेम-लीला में लगा रहता है । यह क्या कम काम है पट्टो ?

बेला—शोर यदि बाप भी प्रेम-लीला में लग जाए तो ?

जमशेद—तो हम चोर-बाजारी करेंगे और तुम्हें 'गुड-बाई' कह देंगे—
'टा-टा' । अपने खानदान को तो बस दो ही काम आते हैं ।
हां, एक तीसरा काम शराब बचने का भी था, परन्तु वह
'मद्य-निषेध कानून' के कारण बन्द हो गया है ।.....अरे हां,
कुछ पिलाओगी नहीं क्या ?

बेला—क्या पिओगे ?

जमशेद—होंठों की 'धरमाउथ', आंखों की शैम्पेन, आलिंगन की
'विहस्की' ।

बेला—चप्पल की बराँडी नहीं ?

जमशेद—वह शादी के बाद ।

[दोनों हँसते हैं]

जमशेद—नहीं, सच, बड़ी प्यास लगी है । जल्दी से कुछ पिला दो ।

बेला—(पलट कर निकट की अलमारी खोलती है जिसमें शराब की
बोतलों की पंक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं । फिर जमशेद की ओर
मुड़कर देखती है ।)—क्या पिओगे ? कोनिक या बोर्वे ?

[जमशेद बेला को बांहों में लेकर उसका चुम्बन ले लेता है ।

बेला एक सिनेमा अभिनेत्री की भाँति एक लम्बा चुम्बन देती
है और पीछे की ओर झुक जाती है । चुम्बन के बाद वह एक
लम्बा साँस लेती है और अपना चेहरा जमशेद के कंधे पर
रख देती है ।]

जमशेद—कितनी अच्छी शराब थी ?

बेला—कितना लम्बा चुम्बन था ! Kiss me joe वाले चुम्बन की
भाँति ।

जमशेद—नहीं, उससे दस सैंकिड कम था । (बेला उसकी ओर आश्चर्य
प्रकट नेत्रों से देखती है ।) हां, हाँ, मैं घड़ी देख रहा था ।

[बेला धीरे से शराब की बोतल उठाकर ड्राइंग-रूम के कौने
में 'बार' की ओर घूमती है । वहाँ पहुँचकर बिल्लोर के दो

गिलासों में बेला शराब उंडलती है और जल्दी से एक गिलास स्वयं पीने लगती है ।]

जमशेद—यह क्या कर रही हो ?

बेला—(गिलास पीकर) मुँह का मज़ा बदल रही हूँ ।

जमशेद—(अपना गिलास उठाकर गटगट पी जाता है ।) या खुदा ? तेरा शुक्र है । मैंने सोचा तुम कहीं अपना पति ही न बदल दो ।

[बेला उसे मारने को दौड़ती है । जमशेद हँसता हुआ पहलू बचा जाता है । द्वार पर एलिज़ा आकर कहती है—]

एलिज़ा—सरकार ! वमन भाई आए हैं ।

जमशेद—कौन वमन भाई ?

बेला—थ्रोल्ड प्रेस का प्रतिनिधि है । इन्टरव्यू करने आया है । मैंने समय दिया था ।

जमशेद—अच्छा तो मैं चलता हूँ । ऐसे नीरस काम के लिये मेरे पास समय नहीं है । शाम को बलब मे मिलोगी ना ? बड़ा अच्छा प्रोग्राम है । एक नई लड़की आई है जो इतना अच्छा नाचती है कि ऐसा लगता है मानो उसके शरीर में कहीं कोई हड्डी नहीं है । न जाने औरत है या शामी कबाब ?

बेला—तब तो अवश्य आऊँगी ।

जमशेद—टा-टा, पट्टो !

बेला—टा-टा, जिक्र जिक्र.....(एलिज़ा से) उसे अन्दर भेज दो ।

[बेला बड़ी गम्भीरता से सोफे पर बैठ जाती है और गालीचे पर गिरी हुई पुस्तक को उठाकर पढ़ना शुरू कर देती है ।

जमशेद बेला की ओर देखता हुआ द्वार में से बाहर चला जाता है और द्वार पर खड़ी हुई एलिज़ा को संकेत से बुलाकर एक कोने में ले जाता है और कहता है—]

जमशेद—एक चुम्बन नहीं दोगी ?

एलिजा—मुँह का मजा बदलने ने के लिये ?

जमशेद—नहीं, सच, बड़ी प्यारी लग रही हो, छमछम ! (आगे बढ़ता है । एलिजा पीछे हटती है ।)

एलिजा—देखिये, देखिये, वह...आपके पीछे...कौन है ?

[जमशेद पलट कर देखता है । दूसरे कोने में एक आदमी खहर का कुर्ता और धोती पहिने, हाथ में चमड़े का थैला उठाये, और आँखों पर ऐनक जमाए खड़ा है । जमशेद को अपनी ओर मुड़ता देखकर वह मुस्करा देता है, ऐनक ठीक करता है और गले को साफ करता हुआ एक विलक्षण-सी आवाज़ निकाल कहता है—]

वमन भाई—मैं ओल्ड प्रेस से भेजा गया हूँ । मिस बेला बाटलीवाला का इन्टरव्यू करने के लिये ।

जमशेद—(निराश होकर उससे हाथ मिलाते हुए) ओ गौश ! (फिर वह तेजी से चला जाता है ।)

एलिजा—अन्दर चलिये । इस समय आपने मुझे एक लम्बे, व्यर्थ, कड़वे और अनचाहे इन्टरव्यू से बचा लिया । धन्यवाद !

[वमन भाई रूमाल से अपना चेहरा साफ करता है । फिर अपनी चप्पल पर पड़ी हुई धूल को अपराधी की भाँति देखता है, और फिर ड्राइंग रूम के सुन्दर, मूल्यवान गालीचे पर हल्के-हल्के, उलभे-उलभे क्रदमों से आगे बढ़ता चला जाता है । बेला उसे देखकर उठती नहीं है । एलिजा एक कुर्सी लाकर सोफ़े के सामने रख देती है । वमन भाई उस पर बैठ जाता है]

वमन भाई—(हकलाते हुए) आप बे-बे-बेला बा-बा-बाटलीवाला हैं ?

बेला—जी हां, जी हां, कहिये ।

वमन भाई—मुझे ओल्ड प्रेस वालों ने आ-आपसे इन्टरव्यू करने के लिये भे-भजा है ।

बेला—मैं हाज़िर हूँ ।

वमन भाई—(जाल में फँसे कबूतर की भांति फड़फड़ाते हुए) यह मेरा प-पहला अवसर है...।

बेला—कोई हर्ज नहीं। मेरा भी पहला इन्टरव्यू है।

वमन भाई—(मुस्करा कर चमड़े के थैले में से कागज़ क्लम निकालते हुए) तब तो हम दो-दोनों की खूब नि-निभेगी।

बेला—फरमाइये !

वमन भाई—(कागज़ पर क्लम की नौक रखकर) आपने कार्ल-माक्स की पुस्तकें पढ़ी हैं !

बेला—पढ़ी तो नहीं हैं, हां, उनकी फिल्म देखी थी—माक्स ब्रदर्स, जिसमें माक्स और उसका भाई कार्ल काम करता है। दो भाई और भी थे। बड़े अच्छे मस्खरे हैं।

वमन भाई—मैं-मैं म-मस्खरों की बात नहीं करता। मैं इस युग के सब से बड़े दा-दार्शनिक की बात कर रहा हूँ।

बेला—दार्शनिक ? ओह, क्षमा कीजिये मुझे दर्शन-शास्त्र की अपेक्षा कशीदाकारी अधिक पसन्द है।

[एलिज़ा जोर से हँस पड़ती है।]

बेला—(क्रोध पूर्वक) एलिज़ा, तुम बाहर चली जाओ।

[एलिज़ा बाहर चली जाती है।]

बेला—क्षमा कीजियेगा, मेरी नौकरानी को बिना बात हँसने की आदत-सी है।

वमन भाई—(हँसता हुआ) हो-हो...मुझे...हो-हो...यह-यह तो मुझे भी आदत है। (जोर-जोर से हँसता है। उसके बाद रुमाल निकाल कर मुँह पोछता है, फिर चप्पल की धूल झाड़ता है। बेला मुँह बनाती है। फिर बेला को सम्बोधन करके कहता है)—क्षमा कीजिये, बड़ी प्यास लगी है।

बेला—क्या पीजियेगा। पानी या चाय ?

वमन भाई—दोनों।

[बेला घंटी बजाती है । एलिजा आती है ।]

बेला—पानी और चाय लाओ ।

[एलिजा चली जाती है ।]

वमन भाई—अच्छा, तो आपको कशीदाकारी बहुत पसन्द है ? परन्तु मुझे तो बड़े सम्पादक ने बताया था कि आ-आपको सोशलिज्म से बड़ी दिलचस्पी है । मैं इसीलिये आप से इन्टरव्यू करने के लिये उपस्थित हुआ था । परन्तु क-कशीदाकारी का सो-सोशलिज्म से क्या सम्बन्ध है ?

बेला—(चौंक कर बैठ जाती है) नहीं, नहीं, मुझे सोशलिज्म बहुत पसन्द है । मेरा एक चाहे... मेरा एक मित्र है, स्वदेश कुमार । वह मुझे सोशलिज्म समझाता रहता है । बड़ा अच्छा लड़का है वह ! उसके पिता की छः मिले हैं...

वमनभाई—तो आप सोशलिस्ट हैं ?

[एलिजा अन्दर आ रही है ।]

बेला—जी हां, मेरा विश्वास है कि सब मनुष्य बराबर हैं । मैं सब लोगों से बराबरी का व्यवहार करती हूँ । अपनी नौकरानी को अपने साथ टेबल पर खाना खिलाती हूँ । पूछ लीजिये...

एलिजा—और अपने कुत्ते को मोटर में अपने साथ धिठाती है । पूछ लीजिए ।

बेला—एलिजा !

एलिजा—देखिये, परसों हमारे बटलर को बुखार हो गया था । इन्होंने डाक्टर को स्वयं अपने हाथ से टेलीफोन किया । पूछ लीजिये ।

बेला—(चीखते हुए) एलिजा !!

एलिजा—कभी-कभी मैं इनके शीशे का भी प्रयोग कर लेती हूँ—अपना मुँह देखने के लिये । यह सोशलिज्म नहीं तो और क्या है ?

बेला—एलिज़ा तुम कमरे से बाहर चली जाओ ।

वमन भाई—ब-बड़ी गु-गुस्ताब गालूच होती है ।

बेला—मैं आप ही इसे यहां से निकाल दूँगी ।

वमन भाई—अच्छा, आप क-काम क्या काम करती हैं ?

बेला—काम ? हि हि...काम तो कुछ नहीं करती ।

वमन भाई—आपके पिता क्या काम करते थे ?

बेला—कुछ नहीं ।

वमन भाई—खैर, आपके दादा क्या काम करते थे ?

बेला—वे भी कुछ नहीं करते थे ।

वमन भाई—तो आप लोग क-कैसे...मेरा मतलब है, कैसे नि-नि-निर्वाह करते हैं ? (बस फूल जाता है ।)

बेला—निर्वाह ? अरे साहब, हमारी तो सात पुस्तों ने कभी काम नहीं किया । हम तो ऊँचे खानदान के लोग हैं । हम तो दूसरों को काम पर रखते हैं ।

वमन भाई—अच्छा, मैं समझ गया । आप कहां तक पढ़ी हैं ?

बेला—जी, मैं बम्बई तक पढ़ी हूँ । आगे पैरिस जाने का विचार था । परन्तु पापा की मृत्यु हो गई, इसलिये न जा सकी । अब शादी के बाद जाने का विचार है ।

वमन भाई—आपकी शादी अब तक नहीं हुई ?

बेला—जी, नहीं ।

वमन भाई—आप किससे शादी करेगी ?

बेला—एक आदमी से ।

वमन भाई—है ! खैर, आप शादी से पहले प्रेम करने के पक्ष में हैं या बाद में ?

[एलिज़ा चाय लेकर अन्दर आती है ।]

बेला—न शादी से पहले, न शादी के बाद । वास्तव में प्रेम और शादी दो अलग-अलग बातें हैं । एक शरीर का सौदा है, दूसरा मन

का । दो अलग-अलग बिजनेस है...।

वमन भाई—बि-बिजनेस ? मैं-मैं आपकी बात नहीं समझा ?

एब्रिजा—मैं समझाती हूँ । ये विवाह तो एक ब्लैक मार्केटियर से करेंगी और प्रेम एक सोशलिस्ट से ।

वमन भाई—(जोर-जोर से हँसता है) भई वाह ! खूब ! फिर जोर-जोर से हँसता है और रुमाल निकाल कर उसे झाड़ता है जिससे धूल चारों ओर उड़ती है । फिर रुमाल से मुँह पोंछ कर उसे जेब में रख लेता है । बेला जोर-जोर से खांसने लगती है ।)

वमन भाई—आपको खांसी कब से है ?

बेला—जी ?

वमनभाई—इसकी चिकित्सा कराइये । बहुत बुरा रोग । इससे तपेदिक...।

बेला—मेरे ख्याल में इन्टरव्यू काफ़ी हो चुका है । आपको अपने समाचार-पत्र के लिए काफ़ी मसाला मिल गया होगा । अब यदि आप...।

वमन भाई—ब-बस, एक प्रश्न और । यह भ-भ-भंगियों की हड़ताल के सम्बन्ध में आपने क्या सोचा है ?

बेला—मैंने ? मैंने तो कुछ नहीं सोचा । मुझे तो यह भी पता नहीं कि भंगियों की हड़ताल हो रही है या होने वाली है । कम से कम मेरी कोठी में तो ऐसी कोई बात दिखाई नहीं देती ।

वमन भाई—अजी, हड़ताल होने वाली नहीं है, हो रही है । सारे नगर में कूड़ा-करकट बुरी तरह फैल रहा है । चा-चारों ओर गंदगी है और ब-बदबू । भंगी काम नहीं करते । (घबराकर) और बी-बी-बी...।

बेला—बीबी अमृतकौर ?

वमन भाई—नहीं, नहीं बी-बी-बीमारी फैल रही है जी । का-का-कांग्रेस ने अपील की है कि लोग स्वयं अपने मोहल्लों में भाड़ लगाएं । तो आपका क्या ख-ख्याल है ?

बेला—किसके बारे में ?—कांग्रेस के या भंगियों के ?

वमन भाई—नहीं, नहीं । भाड़ू फेरने के बारे में ? क्या आप अपनी कोठी के बाहर भाड़ू फेरेंगी ?

बेला—भाड़ू ? कोठी में ? परन्तु मेरी कोठी में तो भंगिन मौजूद है ।

वमन भाई—हाँ, हाँ, भंगिन तो मौजूद होगी । परन्तु यह तो भाड़ू फेरकर केवल स-सफ़ाई करती है और आप यदि भाड़ू फेरेंगी तो आप दे-देश-सेवा का काम करेंगी ।

बेला—देश-सेवा ?

वमन भाई—हाँ, हाँ, दे-देश-सेवा । एडिटर साहब कहते थे कि जो नागरिक भाड़ू फेरेंगे वे राष्ट्रीय हीरो और हीरोइन...

बेला—मैं हीरोइन...अरे वाह ! तब तो सज़ा रहेगा । मैं अवश्य भाड़ू फेरूँगी ।

वमन भाई—इसके लिए आपको को-को-कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा । एडिटर साहब ने कहा था कि यदि आप सहमत हो जाएँ तो वे स्वयं कांग्रेस से कहकर एक जलूस कोठी के बाहर भिजवा देंगे और स्कूल के लड़के-लड़कियाँ भी आ जाएंगे, तिरंगा भंडा लेकर...

बेला—(व्याकुल होकर टहलती है) परन्तु भंडे से क्या होगा ? (हाथ मलते हुए) मुझे तो भंडा नहीं एक भाड़ू चाहिए ।

वमन भाई—भाड़ू भी मिल जाएगी ।

बेला—परन्तु मैं कोई ऐसी-बैसी भाड़ू नहीं फेरूँगी । मुझे तो कोई बढ़िया सी भाड़ू चाहिए । खस की तीलियों की भाड़ू, जिसमें से सुगन्ध आती हो ।

वमन भाई—मिल जाएगी । ऐसी ही भाड़ू मिल जाएगी । कांग्रेस सब कुछ दे सकती है ।

बेला—जिसके तार ज़रबफ्त के हों और मूठ चांदी की ।

वमन भाई—हाँ, हाँ, ऐसी ही भाड़ू लीजिये । कांग्रेस के पास सब प्रकार

की भाडू हं ।

बेला—भाडू तो है, परन्तु भंगी तो नहीं है ।

वमन भाई—हां, भंगी ह-ह-हड़ताल पर है, यही तो मुसीबत है । कहते हैं हमारी मजदूरी बढ़ाओ । जो कुछ मिलता है उससे निर्वाह नहीं होता ।

बेला—यही मेरे नौकर भी कहते हैं । (चीख कर) अरे, इनका वेतन न बढ़ाना । तुम कहाँ तो मैं सारे शहर में भाडू फेरूंगी । तुम कहो तो अपनी सारी सहेलियों को बुला लूँ । कहो तो मैं सारे मालाबार हिल के करोड़पतियों को एकत्रित कर लूँ । हम सब मिलकर भाडू फेरेंगे । परन्तु भंगियों या नौकरों का वेतन कभी नहीं बढ़ाएंगे ।

वमन भाई—जय-हिन्द !

बेला—(घंटी बजाकर) एलिजा ! एलिजा !!

[एलिजा हाथ पर एक लहंगा और चोली डाले हुए प्रवेश करती है]

बेला—यह क्या है ?

एलिजा—सरकार ! आपकी आवाज़ बाहर तक आ रही थी । मैंने सुन लिया और मैं अपनी भंगिन से यह लहंगा, चोली, भाडू और टोकरी ले आई । सरकार ये कपड़े पहनिये, और यह टोकरी लेकर इस भाडू से सफ़ाई कीजिये ।

[एलिजा टोकरी फर्श पर रखती है । उसमें से एक नन्हा बच्चा उठ बैठता है ।]

बेला—(चकित-सी होकर) और क्या है यह ?

एलिजा—यह भंगिन का बच्चा है सरकार ! इसे न केवल यह गन्दा लहंगा और फटी हुई चोली पहनकर और सिर पर टोकरी रखकर कूड़ा ढोना पड़ता है, वरन् साथ-ही-साथ इस नन्हे-से बच्चे को भी गोद में सम्हालना पड़ता है ।

बेला—ले जा इन सब चीजों को बाहर और वापस दे आ भंगिन को ।

मैं एक नया गाउन पहन कर और ख़स की भाङू लेकर सड़क पर भाङू फेंकी ।

वमन—यह हुई न बात । मैं अभी कांग्रेस वालों से कह-सुनकर ग-ग-गवर्नर साहब को टेलीफोन करता हूँ ।

बेला—गवर्नर साहब ?

वमन भाई—हां, हां, आप भाङू फेंकी और वे इस उत्सव का उद्घाटन करेंगे ।

[वमन टेलीफोन करता है ।]

[पर्दा गिरता है ।]

दूसरा दृश्य

[उसी दिन शाम के समय बेला सुन्दर वस्त्र पहने अपनी नई गाड़ी का सहारा लिए खड़ी है । उसने अपने बाल एक नये ढंग से बनाए हैं । उसके पास ही वमन भाई और एलिज़ा खड़े हैं और एक अंधेड़ अवस्था का व्यक्ति खट्टर के कपड़े और काली वास्कट पहने मुँह में लम्बा-सा चुरट लगाए खड़ा है । उसके निकट एक आदमी फटी सी पतलून और कमीज़ पहने कंधे पर कैमरा लटकाए खड़ा है ।]

वमन—(बेला को खट्टर तरी से मिलते हुए) गवर्नर साहब तो कार्य-वश नहीं आ सके । फिर मैंने इनसे प्रार्थना की थी । आप हैं श्री जी० एल० गुडगुड़ी साहब, देश के विख्यात नेता । आप सात बार जेल-यात्रा कर चुके हैं ।

बेला—आप जेल जा चुके हैं । How lovely ! आपको जेल में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई ?

खट्टरधारी—जी नहीं, मुझे तो वहाँ घर से अधिक आराम था ।

वमन भाई—आ-आप आज के शुभ अवसर का उद्घाटन करेंगे ।

बेला—ओह, खूब ! तो चलिये ।

खट्टरधारी—यह भाड़ आपके अर्पण है ।

बेला—(भाड़ हाथ में लेकर) धन्यवाद !



खट्टरधारी—(कैमरे वाले से) अरे भई, मिस साहब का एक फोटो ले लो । और देखो, उद्घाटन के समय अच्छी तरह फोटो लेना ।

फोटो वाला—बहुत अच्छा साहब ! (कैमरा ठीक करता है)...मिस साहब, तनिक मुस्कुराइये...हो गया ।

वमन भाई—(कैमरा वाले को अलग ले जाकर) देखो भाई, उद्घाटन के समय मेरा अच्छा-सा फोटो लेना ।

[कोठी के बाहर इकट्ठे हुए दर्शकों, आने-जाने और किराए के टट्टुओं की आवाजें आ रही हैं, और तालियाँ व सीटियाँ बज रही हैं ।]

खट्टरधारी—मिस बेला बाटली वाला ! तशरीफ ले चलिये । जनता बड़ी बेचनी से आपकी प्रतीक्षा कर रही है ।

बेला—एलिजा, मेरा यह लिबास ज़रा ठीक करदे ।

[एलिजा बेला के वस्त्र ठीक-ठाक करती है । और बेला के पीछे

पीछे चलती है । बेला, एलिज़ा, खदरधारी, वमन भाई और कमरे वाला कोठी के द्वार की ओर बढ़ते हैं । दर्शक जोर-जोर से चिल्लाने लगते हैं ।)

पहला—हाय मार डाला ।

दूसरा—मेरी जान ! हर रविवार को भाङू फेरना ।

तीसरा—भाङू वाली, हमारी गली आना, अच्छा जी...।

चौथा—तेरी भाङू दे बिच मेरा दिल वे मुए । मर गया, रावर्लपिंडी दिया मनी नया ।

पाँचवाँ—भंगियों की हड़ताल जिन्दाबाद !

छठा—अरे जिन्दाबाद नहीं, मुर्दाबाद !

पाँचवाँ—ऐसा ?

छठा—ऐसा जिन्दाबाद बोलेंगा तो एक पैसा नहीं मिलेगा । हमारी रोज़ी भी खोटी करेगा ।

पाँचवाँ—भंगियों की हड़ताल मुर्दाबाद !

तीन-चार और आदमी—मुर्दाबाद ! जिन्दाबाद ! मुर्दाबाद ! जिन्दाबाद !

छठा—अरे, ऐसा कैसा चलेगा । तुम सब मुर्दाबाद बोलो ना । नहीं तो एक पैसा नहीं मिलेगा ।

तीन-चार आदमी—अच्छा अच्छा, अब के ठीक बोलेंगा ।

पाँचवाँ—भंगियों की हड़ताल, मुर्दाबाद !

वमन भाई—चुप हो जाइये, चुप हो जाइये । अब हमारे देश के प्रसिद्ध नेता श्री जी० एल० उद्घाटन करेंगे ।

[जलूस कोठी के बाहर है । बेला, खदर-धारी, एलिज़ा, कमरे वाला और वमन भाई कोठी के अन्दर फाटक तक पहुँच चुके हैं । फाटक लोहें की सीखों का बना हुआ है और उसके अन्दर की ओर ताला पड़ा हुआ है । फाटक के निकट गोरखा पहरेदार खड़ा है । फाटक के साथ-साथ रेशम की एक लम्बी-सी डोर बँधी हुई

है। खदरधारी चुरट पीते-पीते यहाँ तक पहुँचता है और कहता है—]

खदरधारी—प्यारे भारत-निवासियो ! आज हमारे देश में घोर संकट का समय है। भंगियों ने हड़ताल कर दी है और शहर में कूड़े-करकट के ढेर लग गए हैं। यदि इस समय इस संकट को दूर करने का उपाय न किया गया तो भारत देश में हाहाकार मच जाएगा और कम्युनिस्ट इस देश में उपद्रव मचा देंगे। भाइयो और बहनो ! इस कठिन अवसर पर कांग्रेस आपको सन्देश देती है कि बापू का नाम लेकर भाड़ू हाथ में लो और सारे शहर में भंगियों की हड़ताल तोड़ दो। यह देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है कि मिस बेला बाटलीवाला जैसी सुन्दर बाला और उच्च करोड़पति घराने की महिला इस काम में हाथ बँटा रही है। वे करोड़पति लोग भी हमारे भाई हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय ये सब भाई हमारे साथ थे। और आज जब इस देश में भाड़ू फेरने का प्रश्न है तो भी ये लोग हमारे साथ हैं। और हम ऐसे कृतघ्न नहीं हैं कि इनका फिर भी साथ न दें, इनका सम्मान सहित आदर न करें। इसलिए सब बोलो, मिस बाटलीवाला की जय !

दर्शक—मिस बाटलीवाला की जय !

एक आवाज़—ठहरो, ठहरो।

[फटा-पुराना लहंगा और फटी हुई चोली पहने एक काली-कलूटी भंगिन कोठी के अन्दर से भागी हुई चली आ रही है। उसकी गोद में एक बहुत ही दुबला-पतला मरियल-सा बच्चा है। भंगिन आते ही बेला के पाँव पर गिर पड़ती है।]

भंगिन—मालकिन ! तुम यह काम न करो।

बेला—परे हट जा। (उसे ठोकर लगाती है। भंगिन उठ खड़ी होती है।)

भंगिन—मालकिन ! यह भाङू छोड़ दो । यह हम लोगों का काम है ।

[भंगिन भाङू छीनना चाहती है, परन्तु बेला परे हट जाती है ।]

बेला—तो तुम लोग भाङू क्यों नहीं देते ?

भंगिन—मालकिन ! तुम तो बड़ी अच्छी थीं । न जाने तुम्हें क्या हो गया है ! मालकिन ! तुम्हें किसने बहका दिया है ? हमने यह हड़ताल अपनी खुशी से नहीं की है । हम लोग भूख से मरे जा रहे हैं । मंहगाई कितनी बढ़ गई है । तुम्हें मालूम नहीं है मालकिन, हम महीने में कितने दिन केवल एक बार खाना खाते हैं । और महीने के आखिर में तो कुछ भी नहीं बचता । चार-चार रोज़ के फाके लगते हैं मालकिन !

बेला—भूठी ।

भंगिन—मैं भूठ बोल सकती हूँ, मेरा बच्चा तो भूठ नहीं बोल सकता ।

इसकी आँखें देखो, इसका मुँह देखो । इसकी सूखी गर्दन देखो ।

इसकी पसलियाँ गिन लो । ये हड्डियाँ क्या कहती हैं मालकिन ?

बेला—चली जा यहाँ से, अन्यथा मैं तुम्हें नौकरी से अलग कर दूंगी ।

भंगिन—तुम सब बड़े लोग एक ही तरह के होते हो ।

खदरधारी—क्या बकती है यह ? वमन भाई इसे ठोकर मारकर निकाल दो ।

वमन—च-च-च-चली जा यहाँ से । (हाथ उठाता है और भंगिन को मारता है ।)

[भंगिन बेला के हाथ से भाङू छीनकर उसे दे मारती है ।]

वमन—दे-दे-देखो, मार.....साली, अब मार.....देखूँ.....अब कैसे मारती है.....

[बेला खदरधारी आगे बढ़ते हैं, परन्तु भंगिन सब की ठुकाई करती है । कैमरे वाला हँसकर एक कोने में खड़ा होकर फोटो लेने लगता है ।]

खदरधारी—फोटो न तो जी !

बेला—हाय मेरा फ्रांसीसी गाउन...मगर यह फोटो न लो। अरे, यह कैमरे में क्या करता है ?

[कैमरे वाला हँसता है ।]



भंगिन—क्या कहती है ? अब भी भाड़ू देगी ?

बेला—निकल जा, निकल जा अभी मेरी कोठी से ।

भंगिन—(सर पर भाड़ू मारकर) चली है हड़ताल तोड़ने । कलेजा चीरकर रख दूंगी जो फिर कभी भाड़ू हाथ में लिया तो ।

भीड़ में से आवाजें—भंगिन जिन्दाबाद !

एक खहर की टोपी वाला—अरे जिन्दाबाद नहीं मुर्दाबाद कहो, नहीं तो मैं पैसे नहीं दूँगा ।

भीड़ में से आवाजें—अरे कौन तेरे पैसे लेता है ? धर रख अपने पैसे । साला हड़ताल-तोड़, काला-चोर !

[दशक आवाजें लगाते हैं—‘काला चोर मुर्दाबाद’, ‘काला चोर मुर्दाबाद’, ‘भंगिन जिन्दाबाद’, ‘भंगिन जिन्दाबाद’, ‘भंगिन जिन्दाबाद’ । भंगिन चारों ओर भाड़ू फेर रही है । कैमरे वाला हसते-हँसते फोटो ले रहा है । लोग चीख रहे हैं । खहरधारी और वमन भाई का बुरा हाल है । बेला वहाँ से पोच की ओर भागती है ।]

एलिजा—(चिल्लाकर) मिस साहब ! मिस साहब ! आप कहाँ जा रही हैं ?

बेसा—स्विट्ज़रलैंड—एलिजा ! यहाँ का जल-वायु बहुत गरम है

(पर्दा गिरता है ।)

स्वराज्य के पचास वर्ष बाद

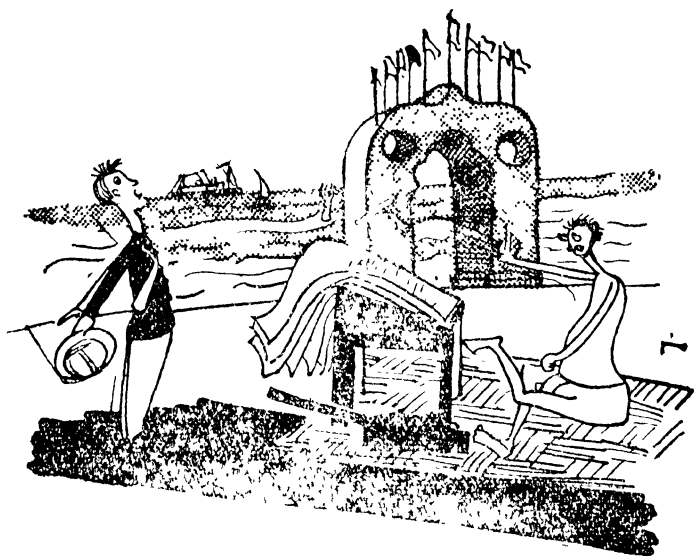
६.

(सन् २०१० में एक हिन्दुस्तानी नौजवान, जिसके पूर्वज स्वराज्य से बहुत पहले ब्राज़ील में जाकर बस गए थे, अपने देश वापस आया। डेढ़ दो साल यहाँ रहकर वह ब्राज़ील लौट गया। वहाँ जाकर उसने एक किताब लिखी — “स्वराज्य के पचास वर्ष बाद।” इस किताब का अनुवाद दुनिया की सब भाषाओं में हो गया है परन्तु भारत में उसके प्रकाशन पर प्रतिबन्ध है। यह लेख उसी किताब से लिया गया है।)

जब हमारा जहाज़ पटेलपुर, जिसे अंग्रेज़ों के शासन काल में बम्बई कहते थे, के बन्दरगाह में पहुँचा तो मेरे दिल में खुशी और उमंगों का एक तूफ़ान उमड़ आया। अपने प्यारे देश की झलक देखते ही मेरी आत्मा भावनाओं के आदेश से विकम्पित हो उठी और देश-प्रेम की भावना से मेरी आँखों में आंसू आ गए। समुद्र तट पर संगमरमर का बना हुआ एक भव्य द्वार था जिसके ऊपर दस भंडे लहरा रहे थे—तिरंगा भंडा, केसरी भंडा, सफ़ेद भंडा, हरा भंडा आदि आदि। गरज यह कि हर रंग के भंडे थे और ये सब राष्ट्रीय भंडे माने जाते थे। परन्तु एक काले भंडे को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि ब्राज़ील और अन्य देशों में काला भंडा शोक का चिन्ह समझा जाता है। परन्तु मुझे बताया गया कि यह उन शहीदों का भंडा है जिन्होंने देश के लिए भूख हड़ताल करते हुए अपने प्राण दिए। एक और भंडा भी था जिस पर कमल का फूल बना हुआ था। यह बंगालियों का भंडा था। बात यह है कि स्वराज्य मिलने के बाद ही भारत की संसद में राष्ट्रभाषा

और राष्ट्रीय झंडे के सवालियों पर एक बड़ा विवाद छिड़ गया और सम्भव था कि यह विवाद बढ़कर गृह-युद्ध का रूप धारण कर लेता। परन्तु हमारे मान्य नेताओं ने आपसी समझौते से इस समस्या का हल निकाल लिया। इसलिए उस समय से आज तक हर एक भारतीय को इस बात अधिकार प्राप्त है कि वह अपना राष्ट्रीय झंडा अपनी मर्जी से चुने और जो भाषा चाहे, बोले और लिखे।

इसका एक परिणाम यह भी निकला था कि कई लोग अदालत में एक कागज़ के टुकड़े पर आड़ी-तिरछी लकीरे खींच कर ले जाते? और जज को इस नई भाषा और लिपि पर गौर करना पड़ता था। परन्तु जैसा मैं आगे चलकर बताऊँगा, ये सब अन्तरिम काल की बातें थीं और इनका देश की शासन व्यवस्था और संस्कृति पर कोई असर न पड़ा।



संगमरमर के उस द्वार के बाहर एक ज़ादभी अपने सामने कलम-

बवात और बही रखे एक चटाई पर बैठा था। मैंने अपना टोप उतार कर उसे सलाम किया। उसने कुछ देर तक मुझे घूरकर देखा, फिर बोला—

“तुम कहां से आए हो ?”

“बाजील से।”

“तुम्हारा पार-पत्र ?”

“पार-पत्र ?”

“हां, हां पार-पत्र, पासपोर्ट ?”

“ओह, यह रहा।”

“हूँ, तुम भारतीय हो ?”

“जी हां” मैंने गर्व से उत्तर दिया।

“तुम यहां कितने समय तक ठहरना चाहते हो ?”

कितना अजीब सवाल था। मैंने कहा—

“मैं भारतीय हूँ, और यहां ठहरने का मुझे पूरा-पूरा अधिकार है, चाहे छः महीने रहूँ, चाहे सारी उम्र वहीं बिताऊँ।”

“नहीं ... यह बात नहीं है। तुमने और तुम्हारे माता-पिता ने सारी उम्र भारत से बाहर बिताई है। तुम भारतीय सभ्यता और संस्कृति से अनभिज्ञ हो। इसलिए तुम यहां केवल छः महीने रह सकते हो।” उसने पासपोर्ट पर दस्तखत करते हुए कहा—“इससे अधिक ठहरने के लिए तुमको पटेलपुर के सर्वोच्च अधिकारी से प्रार्थना करनी होगी।”

मैंने विरोध प्रकट किया—“मैं भारतीय हूँ, यहां ठहरना मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है।”

उसने मुस्कराकर कहा—“हर भारतीय, भारतीय नहीं होता। क्या तुम चर्खा चलाना जानते हो ?”

“नहीं।”

“तकली फिराना ?”

“नहीं।”

“सूत की आंटी बनाना ?”

“नहीं ।”

“खड्डी पर ताना फैलाना ?”

“नहीं ।”

उसने व्यंग्यपूर्वक कहा—“और तुम अपने को भारतीय कहते हो ? मुझे प्रतिदिन तुम जैसे चालाक आदमियों से वास्ता पड़ता है जो यहाँ विदेशों से सैर करने आते हैं और अपने को भारतीय कहते हैं । अच्छा और बताओ ! तुमने अपना खाना कभी अपने हाथ से बनाया है ?

“नहीं ।”

“गुड़ खाते हो ?”

“नहीं ।”

“बाजील मे गुड़ नहीं होता ।”

“बाजील मे गुड़ नहीं होता ?” उसने चिल्लाकर कहा—“आह, कितना जंगली और पिछड़ा हुआ होगा वह देश ।

वह सवाल करता जा रहा था और नहीं मैं मेरे जवाब लिखता जाता था । फिर उसने पूछा,—“क्या तुम अपनी टट्टी अपने हाथों से उठाते हो ?”

अब चिल्लाने की मेरी बारी थी—“कभी नहीं, हरगिज़ नहीं... । शायद एक-दो बार...जब मैं बच्चा था... ।”

“मैं बचपन की बात नहीं पूछता ।” उसने बही मे लिखते हुए कहा—“बचपन मे हर आदमी भारतीय होता है ।”

मैं इन अजीब और अनूठे सवालों से तंग आ चुका था और इस सिड़ी आदमी से जल्दी मुक्ति पाना चाहता था । वह फिर मुझे घूरने लगा । मैंने व्याकुल होकर कहा—“भगवान् के लिए मुझे जाने दो—मुझे छुट्टी दो ।”

“अच्छा तुम भगवान् में आस्था रखते हो ।” उसने यह भी बही में नोट करते हुए कहा—“एक बात तो तुम्हारे पक्ष में है ।” फिर बोला—

“शराब पीते हो ?”

“हां, ब्राजील में तो ग्राम चलन है। इसके बिना खाना हज़म नहीं होता।”

“हां खूब याद आया।” उसने कहा, “तुम खाना मेज़ पर बैठकर खाते हो, या धरती पर ?”

“मेज़ पर बैठकर, छुरी कांटे से।”

“हैं...छुरी...कांटों से।” उसने बही में लिखते हुए कहा - “अच्छा अब अपना सामान दिखाओ।”

थोड़ा-सा सामान था। उसने कुछ मिनटों में देख लिया। एक सूट केस के कोने में उसे कुछ छुरियां-कांटे मिल गए। उसने इन्हें उठा कर समुद्र में फेंक दिया—“ये अहिंसा के कानून की लपेट में आते हैं। अब तुम जा सकते हो।”

×

×

×

जिस हिन्दुस्तान का जिक्र मेरे दादा मुझे सुनाया करते थे, यह तो दुनिया के पड़ों से मिट ही गया था। अब तो उसकी जगह ‘भारत’ था। मेरे दादा को, जो साम्प्रदायी थे और स्वराज्य मिलने से बहुत पहले देश से निकाल दिए गए थे, अपने देश को आजाद देखने की लालसा आखरी दम तक सताती रही थी। लेकिन मेरे पिता को शुरू से ही राजनीति से अरुचि थी। उन्हें राजनीति के बजाए खेती-बाड़ी से ज्यादा दिलचस्पी थी। इसलिये उन्होंने भारत जाने की कभी न सोची। मुझे भारत जाने का इच्छुक पाकर बोले “अच्छा भई जाओ। अपने प्यारे देश के दर्शन कर आओ। परन्तु राने सुना है कि अब देश बहुत बदल चुका है। वहाँ तुम अपने को अजनबी महसूस करोगे।”

अजनबी—मैं हैरान हूँ कि देश की मौजूदा स्थिति का कैसे विश्लेषण करूँ ? यह इतना अजीब और अनोखा देश है कि मुझे आश्चर्य हो रहा है। क्या यह वही हिन्दुस्तान है जिसके बारे में मेरे दादा इतनी अच्छी-अच्छी बातें सुनाया करते थे और जिसके उज्ज्वल भविष्य के बारे में

उनको बड़ी-बड़ी आशाएं थीं ।

हिन्दुस्तान अर्थात् भारत में आकर सबसे अद्भुत बात जो मैंने देखी, वह यह थी कि अखबार कोई न था । वास्तव में कागज का बड़ा तोड़ा था । जो कागज मिलता था, वह हाथ का बना मटियाला कागज था जो अदालतों और सरकारी दफ्तरों के लिए भी पूरा न पड़ता था । और अक्सर सरकारी मुकदमों का फैसला बरतों इसलिए न हो पाता कि जज के पास फैसला लिखने को कागज न होने । बेचारे मास्टर भोज पत्र और केले के पत्तों पर किताबें लिखते और लड़के उन्हें ज़बानी याद कर लेते थे । देश भर में एक-दो पत्रिकाएं निकलती थीं, जो पीपल और ढाक के पत्तों पर लिखी जाती थीं ।



भारत में आकर मैंने देखा कि हर आदमी एक ही धर्म का मानने वाला है । मेरे दादा धर्म के बड़े विरोधी थे और कहते थे कि हिन्दुस्तान को इसलिए स्वराज्य नहीं मिलता कि यहाँ अलग-अलग धर्मों के लोग बसते हैं और सदा एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि विदेशी सदा हमारे देश पर राज्य करते रहते हैं । परन्तु जब देश के सब से बड़े महात्मा ने अपने प्रात्मवल से स्वराज्य प्राप्त किया, तो इसका परिणाम यह हुआ कि देश में सिवाय महात्मा के

आध्यात्मवाद के, बाकी सब धर्म शिट गए । यह एक ऐसा चमत्कार है कि मनुष्य की बुद्धि इसको नहीं समझ सकती । इसलिए जब मैंने गणकारा-बाद, जिसे पहले हैदराबाद कहते थे, में एक बूढ़े आदमी से पूछा, तो

उसने डरते-डरते मुझे सारा हाल यूँ सुनाया—

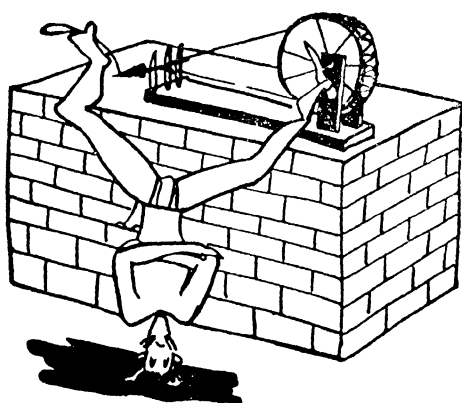
“बात यह है कि भारत के आज़ाद हो जाने के बाद जनता को महात्मा के चमत्कार में और उसके अवतार होने का पूरा-पूरा विश्वास हो गया। वे विश्वास करने लगे कि वह परमात्मा का भेजा हुआ महात्मा है, जिसकी बात टालना महापाप है। महात्मा के बाद उसके चेलों ने जिन्हें हम सरदार कहते हैं, इस मत को बहुत फैलाया। और अब तो रासराजेन्द्र से परशोत्तम पर्वत तक, हर आदमी इसी धर्म का पुजारी है। अब इस भारत में न कोई हिन्दू है न मुसलमान, न सिक्ख न ईसाई, न जैनी और न बौद्ध। अब तो हर आदमी अपने को महात्मा का भक्त कहलवाता है।”

शायद इसी कारण मैंने भारत में मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारे केवल कहीं-कहीं देखे। आह ! यदि आज मेरे दादा जीवित होते तो इस दृश्य को देखकर कितने प्रसन्न होते। हाँ, एक बात अवश्य है कि गाँवों में और शहरों में जगह-जगह पर मन्दिरों, मस्जिदों और गुरुद्वारों के बजाय शान-दार इमारतें बनी हुई हैं। इन्हें ‘चर्खा-गृह’ कहा जाता है। इनमें सुबह-शाम भक्तों का एक जमघटा-सा लगा रहता है। चर्खा-गृह के ठीक बीच में शान-चाँदी या किसी बहुमूल्य लकड़ी का बना हुआ एक चर्खा स्थापित



होता है, जिसे लोग आकर बारी-बारी से चलाते हैं और पुण्य कमाकर लौट जाते हैं। आस्था रखने वाले चर्खा-गृहों में जाकर प्रार्थनाएँ करते हैं, चढ़ावे चढ़ाते हैं। चर्खे के महापुजारी गंडे और ताबीज़ भी बेचते हैं और यह व्यापार बड़ी उन्नति पर है। जैसे ईसाई औरते

सोने और चांदी के कास अपने गले में डाले रखती हैं, उसी तरह मंने वे बहुत-सी भारतीय स्त्रियों को अपनी गर्दनो में छोटे-छोटे सुन्दर मुनहरी चर्खे और कानों में चर्खों जैसे बुन्दे पहने देखा। बहुत से चर्खा-गृहों में चर्खा और महात्मा की मूर्ति साथ-साथ होती, और लोग दोनों की समान-पूजा करते थे। स्कूलों और कालिजों में चर्खा चलाना एक अनिवार्य विषय था और सब से अच्छा चर्खा चलाने वाले को 'चरखट' की डिग्री दी जाती थी। बिहार में मंने एक 'चरखट' को देखा जो यूनी-वर्सिटी में सर्व-प्रथम रहा था। वह सिर के बल उलटा खड़ा होकर अपने



पैरों से चर्खा चला सकता था। मंने यहाँ तक सुना कि भारत में ऐसे आदमी भी हैं जिन्होंने चर्खा चलाने में इतनी निपुणता प्राप्त कर ली है कि यदि उनके हाथ-पाँव भी बाँध दिए जाएँ तो वे केवल आँखों की

पलकों ही से चर्खा घुमा लेते हैं। ऐसे लोगों को प्रायः चर्खा-गृहों का महापुजारी या राज्यों का गवर्नर नियुक्त किया जाता है।

धार्मिक और राजनीतिक क्रान्ति से भी बढ़कर भारत में खाद्य-क्रान्ति को महत्व दिया जाता है। भारत की ७५ प्रतिशत आबादी बकरी का दूध पीकर और खजूर खाकर निर्वाह करती है, और जहाँ बकरी का दूध और खजूर नहीं मिलते, वहाँ संतरे का रस पिया जाता है; और यदि संतरे भी न मिलें तो केवल फ्रांके पर जीवित रहा जाता है। इस खाद्य-क्रान्ति का एक बड़ा लाभ यह हुआ है कि देश में लड़ई-भगड़े बिल्कुल बन्द हो गए हैं। मेरा अपना अनुभव है कि बकरी का दूध लगातार एक

महीना पीने के बाद लड़ाई करने को जी ही नहीं चाहता; हाँ आत्म-हत्या करने को अवश्य मन करता । शायद इसी कारण भारत में



आत्महत्या करने वालों की संख्या पहले से तीन गुनी हो गई है । किसान धान की खेती नहीं करते, बल्कि बकरियाँ पालते हैं और बकरियों पर ही नेताओं के जलूस निकालते हैं । घनी आबादी वाले प्रदेश वे हैं, जहाँ खजूर बहुत होते हैं, जैसे राजपूताना । काश्मीर और उसके आस-पास के प्रदेशों में जहाँ न संतरे होते हैं न खजूर, अब केवल कुछ जंगली आदिवासी बसते हैं, जो झाँके करते हैं या छुट्टे सेब, आलूवे खाकर दिन काटते हैं । लेकिन इनका भारत में प्रवेश सना है ।

हर सोमवार को यहाँ 'मौन दिवस' मनाया जाता है । उस दिन समस्त भारत मौन रहता है । कोई किसी से बात नहीं करता । इशारों से एक-दूसरे को अपनी बात समझाते हैं या कागज़ पेंसिल की सहायता से काम चलाते हैं । घर के पालतू जानवरों, जैसे कुत्ते, बिल्ली, तोता, मंठा, घोड़े, गधे, बैल, बकरी आदि का मुँह किसी कपड़े से बाँध दिया जाता है जिससे शांति में विध्वन पड़े और मौन प्रत भंग न हो ।

भारत के अपने दौरे में मैंने यह महसूस किया कि भारतीयों का अहिंसा के मत में अटल विश्वास है । यह सुन्दर मत उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है । परन्तु मुझे हैरानी तो इस बात से हुई कि किस प्रकार बाहर से देखने पर इस मोदे मत ने भारत की जटिलतम समस्याओं को सुलझा कर रख दिया है । जब मैंने अपने दादा के बूढ़े

दोस्त से पूछा कि यह किस तरह हुआ कि हिन्दू और मुसलमान एक हो गए और वे क्रांतिकारी साम्यवादी जो इस प्रकार के स्वराज्य के कट्टर विरोधी थे, किस प्रकार अहिंसा की लपेट में आकर अपनी हस्ती मिटा बैठे, तो उन्होंने एक उदास सी मुस्कराहट के साथ बताया—“यह एक लम्बी कहानी है बेटा ! लेकिन थोड़े शब्दों में यूँ समझो कि अहिंसा की विचारधारा न उन्हें नहीं मिटाया, बल्कि वह स्वयं ही मर गए । बकरी का दूध पी-पी कर दो ही साल में हिन्दु-मुसलमान का भेद मिट गया । बाकी रह गए आतंकवादी साम्यवादी । उन लोगों के साथ हमने ‘असहयोग’ किया । हमने उन लोगों को जान से नहीं मारा, क्योंकि जान से मारना अहिंसा के मत के प्रतिकूल है । हां, हमने इतना अवश्य किया कि उनके जीवन से ‘असहयोग’ कर लिया, परन्तु वह भी अत्यन्त प्रे-पूर्वक ।”

“वह कैसे ?” मैंने पूछा ।

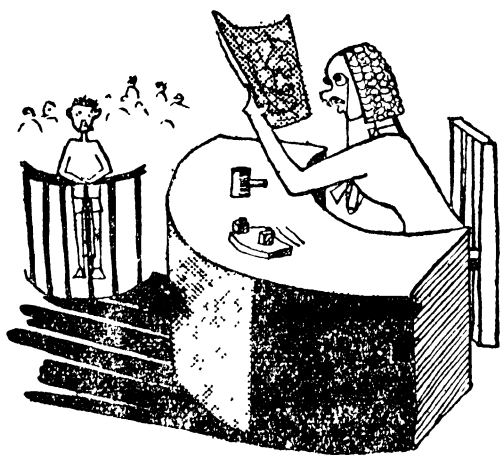
“सीधी-सी बात है । हम भारतीय जब किसी काम से असहयोग कर लेते हैं तो उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखते । न उसे कहीं नौकरी मिलती है न बाजार में उसे कोई कुछ बेचता है । उसके चारों ओर शून्य-सा कर दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि दो-चार दिनों में उसे या तो सुमति आ जाती है या वह भूखा प्यासा मर जाता है । इसी असहयोग के फलस्वरूप हजारों लाखों साम्यवादी मर गए और आज कहीं ढूँढ़े से भी उनका पता नहीं चलता ।”

“परन्तु यह तो हिंसा है ?” मैंने ऊँची आवाज़ में कहा—“खरी हिंसा है; और क्या ?”

मेरे दादा के मित्र ने इधर-उधर देखकर कहा “धीरे से बात करो । अगर किसी ने राह चलते सुन लिया तो हमारे जीवन से असहयोग शुरू कर दिया जाएगा ।” फिर वह ऊँची आवाज़ में कहने लगा—“क्यों साहब इसमें हिंसा क्या है ? उसने उन्हें कैद नहीं किया; फाँसी नहीं दी; उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया । हम पर हिंसा

का आरोप नहीं लगाया जा सकता ।”

भारत ने अपनी सुरक्षा के लिए सेना और पुलिस को रखना आवश्यक नहीं समझा । और सच तो यह है कि देश की इन परिस्थितियों में वे दोनों विभाग अनावश्यक ही मालूम होते हैं । यहाँ मैंने किसी को बड़ते-भगड़ते नहीं देखा । जज और वकील सारा दिन बेकार बैठे रहते



हैं और तकली फिराते रहते हैं । कभी कोई दंगा फ़साद नहीं होता । लोग एक-दूसरे से मिलते समय हाथ जोड़ लेते हैं और मुस्कराते हैं । अगर किसी से नाराज़गी हो जाए तो उसे कुछ नहीं कहते, बल्कि आप

ही भूखा रह कर प्रायश्चित्त कर लेते हैं । देश में कपड़े के कारखाने कभी के बन्द हो गए हैं और हाथ का बुना कपड़ा सारे देश के लोगों के लिए काफी नहीं होता । इसलिए करोड़ों लोग अर्धनग्न फिरते हैं । लोग ऐश वाराम, भोग-विलास को तनिक पसन्द नहीं करते । इन लोगों ने अपने घरों से फर्नीचर आदि निकाल कर कभी के जला डाले हैं । ये लोग घरती पर सोते हैं, सदा सच बोलते हैं और दिन-रात परमात्मा के ध्यान में मग्न रहते हैं । बाजारों में बकरियाँ भिमियाती फिरती हैं और अपने मालिकों के लिए सौदा-सुलक गले में बाँधवा कर ले जाती हैं ।

स्त्रियों के आदर-सत्कार के सम्बन्ध में भारतीय सारी दुनिया से



बाजी ले गए हैं। यहाँ हर स्त्री को पवित्र समझा जाता है। यद्यपि प्रथानुसार शादियाँ भी होती हैं, परन्तु क्या स्त्री, क्या पुरुष, सब ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने की धुन में विरक्त से फिरते हैं। आकड़ों के विभाग से पूछ-ताछ करने पर ज्ञात हुआ कि पिछले बीस वर्षों में सारे भारत में केवल छः बच्चे पैदा हुए। यह छः बच्चे ब्रह्मचर्य-व्रत की शानदार सफलता के द्योतक हैं। और यदि भारतीय इसी दृढ़ता से और नियम पूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते रहे तो वह दिन दूर नहीं जब सारे भारत में एक बच्चा भी पैदा नहीं होगा। ऐसा अनुमान लगाया गया है। कि पिछले तीस वर्षों में भारत की आबादी एक तिहाई रह गई है; और यदि प्रगति की यही रफ्तार बनी रही तो बिल्कुल सम्भव है कि अगली शताब्दी के मध्य तक पारा भारत 'निर्वाण' प्राप्त कर ले। तनिक कल्पना कीजिए कि रास राजेन्द्र से परशोत्तम पर्वत तक आपको एक भी आदमी नज़र न आएगा—ठंडे चूल्हे, उजड़े बाज़ार और मिमियाती हुई बकरियाँ—आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाला कितना प्रभावकारी दृश्य है.....भारत-वासी मुक्ति पाकर बैकुण्ठ सिधार गए हैं, देवता आकाश से पण्य-वर्षा कर रहे हैं; और भारत के महात्माओं की जय जय-कार कर रहे हैं।

आश्चर्य है कि इन निराले, अनोखे और शान्ति-प्रिय लोगों के देश

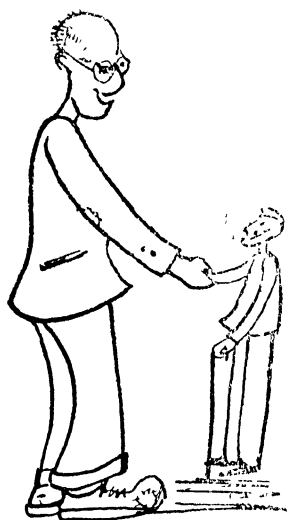
पर दूसरे देश हमला नहीं करते, यद्यपि भारत के पास न फौज है न हथियार । शायद इसका कारण यह है कि दूसरे देशों के लड़ाकू लोग इस प्रतीक्षा में हैं कि ये भारतीय, अपने ब्रह्मचर्य व्रत के हाथों इस दुनिया से बंकुण्ठ सिधार जाएँ और तब वे इस सूने देश में आकर बस जाएँगे । जो चीज़ थोड़ी प्रतीक्षा से प्राप्त हो सकती है और बिना लड़े-भगड़े मिल सकती है, उसके लिए क्यों खून बहाएँ ?

दो साल से कम ही समय तक घूम कर, मैं बाजील लौट आया । मेरा जी अपने उस प्यारे देश से बहुत जल्द भर गया, जहाँ कोई किसी से प्रेम नहीं करता; जहाँ लड़ाई-भगड़े नहीं होते; जहाँ सब सच बोलते हैं, बकरी का दूध पीते हैं और लंगोट बान्ध कर ईश्वर-भजन करते हैं ।

जिन लोगों के बारे में जनसाधारण ग़लत धारणाएं बना लेते हैं, उनमें से एक मैं भी हूँ। वैसे तो मैं एक घटिया से कालिज में तुच्छ-सा प्रोफेसर हूँ, पिछ्त्तर रुपया वेतन पाता हूँ और दिन भर लड़कों की अंग्रेज़ी की कापियां ठीक करता हूँ, परन्तु इसका क्या किया जाए कि मेरे गांव के लोग, मेरे परिचित और वे पुराने मित्र जो कभी एफ० ए०, बी० ए० में मेरे सहपाठी थे और अब किसी दूर के नगर में प्राइवेट फर्म में क्लर्कों कर रहे हैं, मुझे किसी फ़िल्मी हीरो से कम नहीं समझते अगर गांव वालों में से किसी की पेशी लाहौर की किसी कचहरी में पड़ जाए तो वह गांव वालों से मेरा लाहौर का पता पूछ आता है और फिर बड़े गर्व से तांगे वाले को हुक्म देता है, “चल नम्बर ४४, चंगड़ मोहल्ला, प्रोफेसर साहिब की कोठी पर।”—जैसे कि सारे लाहौर में प्रोफेसर एक मैं ही रह गया हूँ। वे जो गंजे सिर वाले पाँच-पाँच सौ रुपये वेतन लेते हैं मानो झुक मारते हैं। मेरा अनुमान है कि मेरा आधा वेतन इन्हीं बिन-बुलाए मेहमानों के सत्कार की भेंट हो जाता है और इसका फल मुझे केवल यह प्राप्त होता है कि गांव लौटकर मेरा गुणगान किया जाता है। “अजी मैं, वहां पेशी थी, लाहौर गया था। प्रोफेसर साहिब के घर ठहरा था। उन्होंने बड़ा आदर-सत्कार किया; दो दिन तक हिलने न दिया। बड़ा ही नेक है, घमंड तो छू तक नहीं गया।”

यद्यपि मेरा वेतन केवल पिछ्त्तर रुपए मासिक है, परन्तु दो-चार घनिष्ट मित्रों के अतिरिक्त सब को मेरे वेतन के बारे में भी ग़लत फ़हमी

है। वे सब यह समझते हैं कि मैं कम से कम ढाई सौ रुपए अवश्य कमाता हूँ। वे इसका उल्लेख बड़ी ईर्ष्या पूर्वक करते हैं, जिसे सुनकर जी तो जल ही जाता है परन्तु एक प्रकार के उल्लास का भी अनुभव होता है। बाज़ार में चलते-चलते कोई पुराना मित्र मिल जाए, बड़े स्नेह



पूर्वक गले मिले और इसके पश्चात्, “यार सुना है कि तुम प्रोफेसर हो गए हो। (सुना है, जैसे विश्वास नहीं आता) यार सुनकर बहुत प्रसन्नता हुई। (प्रोफेसर मैं हुआ, प्रसन्नता आपको हुई) यार खूब ऐश करते हो ना। (खुदा तुम्हें ग़ारत करे) ढाई सौ रुपए पाते हो। तनिक मेरी ओर देखो, खड़ड़-बड़ड़ कम्पनी में पैंतीस रुपए पाता हूँ, एक बीबी है, बच्चे हैं, जान आफ्त में है। तुम तो ऐश करते हो—दो-ढाई स रुपए महीना।”

कहना यह कि यार लोग ढाई सौ रुपयों का उल्लेख इस शुभ कामना और विश्वास से करते हैं कि बहुधा मुझे भी भ्रम-सा हो जाता है कि वास्तव में मेरा वेतन इतना ही है। परन्तु जब महीने की पहली तारीख़ आती है तो यह सुन्दर भ्रम, टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

कुछ लोगों ने मेरी शिक्षा सम्बन्धी योग्यता के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण अपना रखे हैं और मेरी हज़ार कोशिशों पर भी इन दृष्टिकोणों को त्यागने के लिए तैयार नहीं। गाँव वाले तो विशेष रूप से यह विश्वास कर बैठे हैं कि संसार भर के ज्ञान-विज्ञान का मैं ज्ञाता हूँ। यदि किसी को आपरेशन कराना हो, किसी का मुकदमा हो, किसी की पत्नी भाग गई हो, वह तुरन्त लाहौर आकर मुझ से परामर्श करता है

और मुझे झूठ सच उसे कुछ न कुछ बताना पड़ता है । मैं झूठ न भी बोलूँ, परन्तु पहली बात तो वह है कि सच सुनने को कोई तैयार नहीं होता । फिर दूसरी बात यह है कि यदि लोग स्वयं ही आप को अपनी श्रद्धा का पात्र बना लें तो आप को श्रद्धेय बनने में क्या आपत्ति हो सकती है ? और फिर मैं तो किसी को नाराज़ नहीं करना चाहता । अहिंसा ने, बोर्डिंग हाउस की रोटियों ने और लड़कों की ग़लतियाँ भरी कापियों ने मुझे कायर बना दिया है ।

कुछ लोगों के निकट मेरा प्रोफेसर होना इस बात का प्रमाण है कि मैं लाहौर के सब से बड़े हाकिमों, नवाबों, रईसों और यूनिवर्सिटी के परीक्षकों को जानता हूँ । कोई चाहता है कि मैं उनकी डिप्टी कमिश्नरों से मुलाकात करा दूँ । कोई किसी बीमा कम्पनी में नौकरी का इच्छुक है । कोई नवाब भगंड खाँ की कोठी बनाने का ठेका लेना चाहता है । और मुझे तो इन्कार हो ही नहीं सकता, हर एक से हाँ कर देता हूँ । कम से कम उस समय तो बला टल ही जाती है । बाद में बहुत बातें घड़नी पड़ती हैं मगर बाद में...यही खैर है । अभी उस दिन की बात है मेरे मित्र शेर अली खाँ बिलौच आ धमके । कदाचित् तीसरी क्लास में हम साथ-साथ पढ़ते थे । फिर मैं लाहौर आगया । अब इतने सालों बाद आज भेंट हुई । कहने लगे—“आपने पहचाना नहीं ! मैं शेर अली खाँ बिलौच हूँ । मैं आपके साथ तीसरी क्लास में पढ़ा करता था, याद आया !”

ख़ूब याद आया । यह वही साहब थे जो अकसर मेरे पैसे छीन लिया करते थे, मेरी जेब से रेबड़ियाँ निकाल कर खा जाया करते थे । हँसी हँसी में मुझे गन्दे नाले में गिरा दिया करते थे ।

“ओहो, आप शेर अली खाँ हैं ?” मैंने खुश हो कर कहा—“कहिए मिजाज़ कैसे हैं ? सोडा बोडा मंगवाऊँ ?”

“सोडा बोडा तो बाद में पियूंगा” शेर अली खाँ ने कहा—“पहले यह बताइये कि आप प्रोफेसर हैं ना, मैं आज कल मॉरमल का इम्तिहान

दे रहा हूँ जुगुराफिया का पर्चा बहुत बुरा हुआ है। पास होने की कतई उम्मीद नहीं है। आप खान बहादुर रिच को तो जानते होंगे। अगर उनसे मिल-मिला कर काम हो जाए तो...?”

मैंने मन में सोचा, ‘कहाँ मैं और कहाँ खान बहादुर रिच। सिफारिश करना तो दूर, मैंने उन्हें देखा भी नहीं।’ मगर जैसा मैंने पहले कहा, मैं कायर आदमी हूँ, इसलिए मैंने झट से कह दिया—“यह तो बहुत मामूली सी बात है। खान बहादुर रिच को तो मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। कल ही तो मेरे यहाँ चाय पीने आए थे। क्या अच्छा होता कि आप कल आ जाते। खैर, कोई बात नहीं।”

“खुदाया तेरा लाख-लाख शुक्र।” शेर खाँ बिलौच ने गरज कर कहा—“तो आप उन से मिलेंगे न, मेरा रौल नम्बर लिख लीजिए, नम्बर ३६ है। ३६, भूलिएगा नहीं।”

“कभी हो सकता है ? ” मैंने कहा ३६ नम्बर मुझे अच्छी तरह याद रहेगा, लिखने की क्या ज़रूरत। हाँ कल ही खान बहादुर से कह दूँगा।

“अच्छा तो मैं चलता हूँ।”

“वाह साहब, अभी आए और अभी चल दिए ? एक-दो दिन तो ठहरते।”

“जरूर ठहरता, जरूर ठहरता” शेर अली खाँ ने उठते हुए कहा, “मगर कल दूसरा परचा है, फिर कभी हाजिर होऊँगा।”

शेर अली खाँ चले गए और बात आई गई हो गई, कम से कम मेरे मस्तिष्क से तो यह बात बिल्कुल निकल गई। परन्तु एक रोज़ क्या हुआ कि रात के ठीक ग्यारह बजे किसी ने जोर जोर से द्वार खड़खड़ाया मैं किवाड़ खोले। देखा शेर अली खाँ थे।

“आइये, आइये” मैंने कृत्रिम हँसी हँसते हुए कहा।

शेर अली खाँ ने वहीं खड़े-खड़े कहा—“मैं उसी बात के लिए हाजिर हुआ हूँ, कहिये कुछ बना ?”

“सब कुछ ठीक हो गया है, आप तसल्ली रखें।” मैंने साफ़ झूठ बोला।

“क्या उन्होंने मुझे पास कर दिया है?”

“हाँ हाँ, मैं ख़ानबहादुर के पास गया। वं कहने लगे ‘आओ यार, बहुत दिनों बाद आए हो।, मैंने कहा - एक लड़के को पास कर दीजिए। बस तुरन्त उन्होंने २० नम्बर और दे दिये। अन्दर तशरीफ़ लाइये?” मैंने शेर ख़ाँ से कहा।

“मैं आपका किस मुँह से शुक्रिया अदा करूँ!” शेर अली ख़ाँ ने कहा, “मैं सारी उम्र आपका अहसान नहीं भूल सकता।”

“किस का अहसान दोस्त!” मैंने विनम्र बनते हुए कहा—“मैं तो तुम्हारा खादिम हूँ, यह तो एक मामूली सी बात थी।”

“हाँ तो आपको ठीक पता है न?” शेर ख़ाँ ने कहा, “बीस नम्बर दिए थे?”

“हाँ, हाँ पूरे बीस।”

“मेरा रोल नम्बर तो आपको याद था? भला क्या था?” शेर ख़ाँ ने पूछा।

“यही नम्बर...नम्बर (कमबख्त याद नहीं आता) यही ३७ नम्बर था।”

“नम्बर ३७” शेर ख़ाँ बिलौव ने चिल्लाकर कहा, “मेरा नम्बर तो ३६ था।”

“हाँ नम्बर ३६” मैंने हाथ भलते हुए कहा, “ओह कितनी ग़लती हुई। मैंने ३६ को ३७ समझ लिया।”

शेर ख़ाँ बोले—“मैंने उस वक़्त कहा था कि आप मेरा रोल नम्बर लिख ले, मगर आपने न लिखा। ३७ रोल नम्बर वाला लड़का तो वैसे ही बड़ा लायक है।”

“ओहो ठीक याद आया,” मैंने जल्दी से कहा “कितनी भूल हुई?” तभी तो ख़ान बहादुर कहते थे कि इस लड़के के तो पहले ही बहुत

नम्बर है। तुम इसके बीस नम्बर किसलिए बढ़वाना चाहते हो ? क्या उसे यूनीवर्सिटी में अक्वल कराना चाहते हो ? मैंने कहा कि खान बहादुर, आप को मेरी खातिर इसे २० नम्बर और देने ही होंगे। कितनी बड़ी भूल हो गई।

“फिर अब ?” शेर अली खाँ ने पूछा।

“आप बिल्कुल फिक्र न करें।” मैंने उसे दारस बंधाते हुए कहा—
“कल ही खान बहादुर के यहाँ जा कर उन्हें यह ग़लती बताऊँगा और उस लड़के के बीस नम्बर काट कर आप को दे दिए जाएंगे।”

शेर अली खाँ चला गया और मैं फिर इस घटना को भूल गया। एक महीने बाद अचानक शेर अली खाँ का खत आया। वह पास हो गया था। उसने मेरा बहुत-बहुत शुक्रिया अदा किया था।

शेर अली खाँ की घटना के बाद तो लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया कि यूनीवर्सिटी वाले मेरे खरीदे हुए गुलाम हैं। मैं जो चाहूँ, उनसे करा सकता हूँ। इसलिए इसके कुछ समय बाद ही मेरे मामा जी मम्मे से मिलने आए। बातों बातों में कहने लगे कि इस साल अपने प्रकाश चन्द्र ने मैट्रिक की परीक्षा दी है। अंग्रेजी और हिसाब में पर्चे अच्छे नहीं हुए हैं। वैसे तो क्लास में काफी अच्छा है पर मुझे डर है कि कहीं फेल न हो जाए। इसलिये तनिक उसका ध्यान रखना है। परचे देखने वालों से मिल कर...।”

“हाँ, हाँ।” मैंने सिर हिला कर बड़े जोश और विश्वास के साथ कहा—“आप तनिक चिन्ता न करें। प्रकाश को आप बस पास समझिए।”

इसके पश्चात् मामा जी के अनेकों पत्र आए और हर एक पत्र में यह वाक्य होता था —“मैंने वह बात जो लाहौर में आप से कही थी, उसका ध्यान रखना।” इस बार मामा जी का स्नेह भी विशेष रूप से मेरे लिए उमड़ा। उन्होंने भी कई पत्र लिखे और हर पत्र के अन्त में मम्मे अपने और प्रकाशचन्द्र के सम्बन्ध का ज्ञान कराया, “प्रकाशचन्द्र तुम्हारा भाई ही है, उसका ध्यान अवश्य रखना। यदि तुम ने उसको पास न कराया तो मैं सारी उम्र तुमसे न बोलूंगी।”

भगवान की करनी कि प्रकाशचन्द्र भी पास हो गया । बस अब मेरे मामा जी सब को सुनाते फिरते हैं—“प्रोफेसर साहब ने पास करा दिया आखिर अपने सगे सम्बन्धियों से इतना भी लाभ न हो तो और क्या होगा ।” उधर जब प्रकाशचन्द्र एफ० ए० में दाखिल होने आया तो मैंने रौब डालते हुए उससे पूछा— ‘क्यों वे प्रकाश, यह तू हिस्टरी के पच्चे में क्या लिख आया था ? अकबर के स्थान पर अशोक और हेस्टिगज के स्थान लार्ड डलहौजी का शासन काल लिख नारा ? फिर अंग्रेजी के पच्चे में तेरे हिज्जे इतने ग़लत क्यों थे । चिरंजीव, काम करना सीखो, हर साल तो मैं तुम्हें पास कराने से रहा ।”

और बेचारे प्रकाश ने सिर झुका कर कहा— “जी क्या बताऊं, गलतियाँ हो ही गईं ।”

परन्तु लड़के हर बार पास नहीं होते । मेरे पास उसके भी छुटे छुटाए उत्तर मौजूद हैं ।

“अब्जी आप का लड़का क्या पास होता । आपने तो उलटा मुझे लज्जित कराया । मैं लाला ईश्वरी प्रसाद के पास गया तो उन्होंने तुरन्त



सारे पच्चे मेरे हाथ में दे दिए और कहा—तुम स्वयं ही न्याय से जितने नम्बर चाहो, दे दो । अब मैं क्या करता । कुछ लिखा होता तो नम्बर देता । जो जवाब देखो, ग़लत । जो इमला देखो, ग़लत । शब्दों के अर्थ तब

गलत । समझ में नहीं आता यह लड़का सारे साल क्या करता रहा ।”

“करता क्या रहा !” लड़के का बाप हाथ में छड़ी लेकर उत्तर देता “बदमाश कहीं का, सारा साल ताश पीटता रहा है । आप ठीक ही कहते हैं, यह पास कैसे होता । क्यों बे हरामी ।”

अब तक मैं कई लड़कों को इस प्रकार पिटवा चुका हूँ, परन्तु फिर भी लोग मेरा पीछा नहीं छोड़ते ।

+ + +

मैंने तंग आकर अब प्रोफेसरी छोड़ दी है । अब मैं अनारकली में आटे, तेल, नमक की दुकान करता हूँ । परन्तु इस पर भी लोगों की गलत फहमी दूर होने में नहीं आती । वे समझते हैं कि मैं अभी तक प्रोफेसर हूँ और इस दुकान पर यून ही आ बैठता हूँ । या शायद यह मेरे किसी मित्र की दुकान है । अगर मैं किसी को सच्ची बात बता भी दू तो वह समझता है, मैं हँसी कर रहा हूँ । इसलिए खूब खिलखिला कर हँसते हैं ।

और कहते हैं—“हा—हा—हा— प्रोफेसर साहब आप तो बहुत ही दिलचस्प आदमी हैं ।”

सच तो यह है कि इस संसार में सच, झूट है और झूट, सच ।

प्रेम—और एक कार

८.

कल पढ़े लिखे बेकारों के क्लब में उपेन्द्र ने प्रेम के विषय पर एक भावुकतापूर्ण भाषण दे डाला । प्रेम एक अलौकिक वस्तु है । भगवान और सूर्य की भाँति प्रेम भी जाति, रंग और नस्ल के भेदों से ऊँचा है । यह गरीब और अमीर को समान रूप से प्रसन्नता प्रदान करता है । उपेन्द्र ने अपनी भवों को बादलों से मिलाने की चेष्टा करते हुए भावुक कण्ठ से कहा—“प्रेम तो देवताओं की प्रदान की हुई भावना है । समस्त विश्व पर प्रेम ही का साम्राज्य स्थापित है । प्रेम भगवान का मनुष्य जाति को दिया हुआ सब से बड़ा वरदान है । समस्त विश्व का विधान प्रेम पर आधारित है । आह प्रेम, प्रेम, प्रेम ।” यह कहकर उपेन्द्र ने आँखें मूंद लीं और मौन हो गया । उसे विश्वास हो गया था कि इस भाषण के बाद क्लब के किसी दूसरे मेम्बर को तर्क-वितर्क और आलोचना करने का साहस न होगा ।

कुछ क्षणों तक सन्नाटा छाया रहा । फिर राजेन्द्र ने धीमे कंठ से कहा—“तुम्हें क्या हो गया है उपेन्द्र ? क्या करुणा ने तुम्हें कोई नया प्रेमोपहार भेजा है ? कल मने तुम्हारी लिखने की मेज पर एक काढ़ा हुआ नया मेजपोश देखा था । क्या...?”

और सहसा उपेन्द्र का चेहरा कानों तक सुर्ख हो गया । सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े । उपेन्द्र तिलमिला उठा—“ओह, तुम लोग कितनी हीन मनोवृत्ति के हो । तुम मानवता की श्रेष्ठतम भावना को पावों तले कुचल रहे हो । तुम उन आलौकिक वस्तुओं को, जिनका

आधार आत्मा है, लौकिक और भौतिक वस्तुओं से मिला रहै हो । आज...”

बशीर से और न सहा गया । वह खोल उठा—“तुम प्रेम को इस दुनिया से परे की चीज बताते हो ? प्रेम क्या, दुनिया की हर एक चीज मैटर (matter) यानी मादे से बनी है । इस सच्चाई को तुम एक हवाई लैक्चर देकर नहीं झूठला सकते । जो चीज गोबर के ढेर में मच्छर पैदा करती है, वही चीज दूसरी तरफ तुम्हारे दिमाग की सलवटों में प्रेम को जन्म देती है—लैनिन ने अपनी एक किताब में यही लिखा है ।”

बशीर, जैसा कि बहुत कम लोग जानते हैं, हिन्द महासागर के इस पार तीसरा शुद्ध साम्यवादी है और भारत में पाँचवे इन्टरनेशनल की नींव रखने में संलग्न है । इसलिये जब कभी वह क्लब में किसी विषय पर बोलता है तो सिवाए दो-एक सिर फिरे मेम्बरों के, बाकी सब मेम्बर उसके विचार से सहमत हो जाते हैं । परन्तु उपेन्द्र उन सिर फिरे मेम्बरों में से एक था और उसका दूसरा साथी था हरि ।

“यह सब बकवास है”—हरि ने बशीर की बात का विरोध करते हुए कहा—“प्रेम कोई लौकिक चीज नहीं है । वह सच्चमुच एक अलौकिक और आध्यात्मिक भावना है । उसका मादे यानि भौतिक चीजों से कोई सम्बन्ध नहीं है । बशीर ने जो नतीजे निकाले हैं, वे बिल्कुल गलत हैं । उपेन्द्र और करुणा ही के सम्बन्धों को ले लो । करुणा उपेन्द्र से प्रेम करती है—अगाध प्रेम । करुणा एक अमीर लड़की है—मेरा मतलब यह है कि उसके पिता बहुत बड़े रईस हैं । अब देखिए कि अमीरी और गरीबी का भेद होते हुए भी करुणा उपेन्द्र से प्रेम करती है । इससे यह बात साफ हो जाती है कि उसके प्रेम में किसी सांसारिक वस्तु का लोभ शामिल नहीं है । उसका प्रेम शुद्ध रूप से आध्यात्मिक और अलौकिक है । वह केवल उपेन्द्र से, उसके लेखों से प्रेम करती है । उसका प्रेम निश्चय ही आत्मा का अमर आकर्षण है ।”

इस पर जितेन्द्र से भी चुप न रहा गया। उसने अपने मस्तिष्क पर जोर डालते हुए कहा—“मैं इस बात में हरि से सहमत हूँ कि प्रेम एक आध्यात्मिक चीज है। स्त्रियाँ पुरुषों से यह देखकर प्रेम नहीं करती कि वे सुन्दर हैं या बड़े धनवान हैं।”

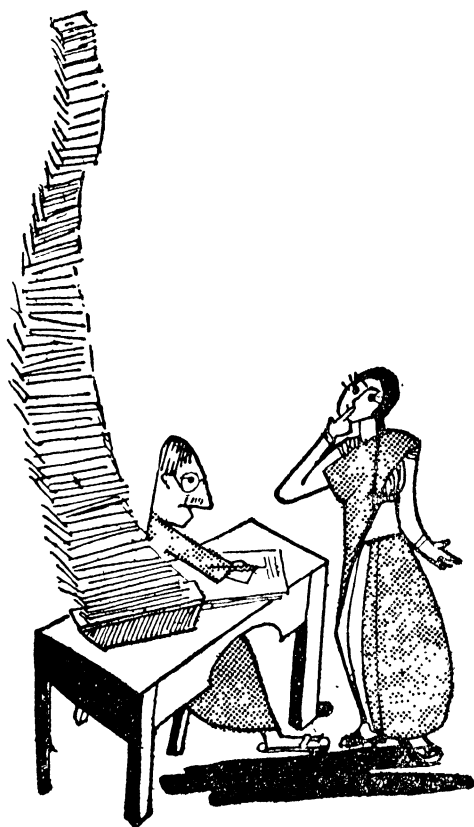
“परन्तु क्या हिन्दुस्तान में स्त्रियाँ सचमुच प्रेम करती हैं?” क्लब के एक मरियल से मेम्बर ने डरते-डरते पूछा। परन्तु उसका प्रश्न अप्रासंगिक था, इसलिए किसी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया।

“मैं कह रहा था,” जितेन्द्र ने फिर से बोलते हुए कहा—“हाँ तो मैं कह रहा था; मैं क्या कह रहा था? हाँ, ठीक ठीक, मैं यह कह रहा था कि स्त्रियाँ पुरुषों से इसलिए प्रेम नहीं करती कि वे सुन्दर या धनी होते हैं। वे अपनी आत्मा की प्यास बुझाने के लिए प्रेम करती हैं। तनिक ध्यान दीजिए कि अच्छी स्त्रियों ने प्रेम करने के सम्बन्ध में सदा ही डाक्टरों, इन्जीनियरों, डिप्टी कमिश्नरों, पूंजी पतियों और उच्च वर्ग के पुरुषों के मुकाबले में, गरीब साहित्यिकों, फौज के सिपाहियों, होटल के नौकरों और फुटबाल और क्रिकेट के खिलाड़ियों को प्रधानता दी है। प्रेम की प्रतियोगिता में स्त्री उस पुरुष को चुनती है जिसमें कोई असाधारण विशेषता हो। वास्तव में किसी स्त्री का प्रेम पाने का तरीका उसकी नज़रों में चढ़ने के लिए कोई असाधारण काम करे। साहित्यिक हो तो एक करोड़ शब्दों का एक लम्बा-चौड़ा लेख लिख डाले; खिलाड़ी हो तो अपने हाथ पाँव बँधवा कर अधिक-से-अधिक देर तक तालाब में तैरने की कोशिश करे; सिपाही हो तो...”

“घुटनों के बल बाजार में चलने की कोशिश करे।” मुजीब ने बीच में बात काटी।

जितेन्द्र ने गम्भीर होकर कहा—“मेरा मतलब यह है कि पुरुष कोई ऐसी बात अवश्य करे कि वह अपनी प्रेमिका की दृष्टि में असाधारण और महामानव प्रतीत हो। उसके सिर के चारों ओर दैनिक प्रकाश दिखाई देने लगे। ड्यूक ऑफ विण्डसर की बात लीजिए। ड्यूक...”

“परन्तु हम एक ड्यूक ऑफ़ विण्डसर और एक करुणा की बात नहीं कर रहे हैं।” श्याम न बहस में भाग लेते हुए कहा—“एक ड्यूक



ऑफ़ विण्डसर वहाँ और एक करुणा यहाँ, कोई विशेष फ़र्क पैदा नहीं करते। मेरा विश्वास है कि यदि हम प्रेम का दार्शनिक विश्लेषण करें तो इस विश्लेषण के परिणाम इन दो असाधारण उदाहरणों पर भी उसी तरह पूरे उतरेंगे। जिस तरह अन्य साधारण लोगों के प्रेम पर। प्रेम को आखिर तर्क की दृष्टि से क्यों न परखा जाय? प्रेम को आध्यात्मिक

मानना तो केवल अपने को बच्चे की भाँति बहकाना है। प्रेम को भौतिक वातावरण में रख कर वैसे ही आसानी से परखा जा सकता है। जैसे न्यूटन के आकर्षण-सिद्धान्त को या मनुष्य के शरीर से पसीना निकलने की क्रिया को। सच तो यह है कि पुरुष सदा स्त्रियों में सुन्दर नयन,

नकाश और आकर्षक हाव-भाव खोजते हैं और यदि स्त्री, हिन्दुस्तानी है तो भारी दहेज भी चाहते हैं। और स्त्रियाँ ? स्त्रियों को भी प्रेम करने के लिए पुरुषों में जिस प्रकार की विशेषताओं की चाह होती है उनका आध्यात्म से बहुत कम लगाव होता है। यह दूसरी बात है कि आप एक सजे सजाये घर, मोटी आमदनी और 'जी हुजूर पति' को भी 'आध्यात्म' की परिधि में ले आये। इसलिए प्रेम की वास्तविक और सही परिभाषा में 'आध्यात्म' के लिए कोई जगह नहीं। प्रेम भी मानव जीवन की अन्य प्रेरणाओं की भाँति भौतिक पदार्थों पर अबलम्बित है। मानव के भौतिक वातावरण में जो परिवर्तन होते हैं, उनसे प्रेम के दृष्टिकोण में भी उचित परिवर्तन होते रहते हैं। केवल प्रेम ही नहीं बल्कि मानव जीवन के समस्त सामाजिक सम्बन्ध इसी अनिवार्य परिवर्तन से परिवर्तित होते, बनते-बिगड़ते और सम्हलते रहते हैं। मध्य कालीन युग के भौतिक वातावरण में मजनों को प्रेम करने के लिए केवल एक ऊँट की आवश्यकता थी। आज कल के मजनों को प्रेम करने के लिए ऊँट की आवश्यकता नहीं। उसे तो एक कार चाहिए। ऊँट से लेकर कार तक, प्रेम के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हुए हैं वह न केवल मानव इतिहास की विभिन्न मंजिलों और उसकी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के द्योतक हैं, बल्कि यह भी जाहिर करते हैं कि प्रेम का व्यवहारिक दृष्टिकोण मध्यकालीन युग से बदलता हुआ अब पूरी तरह पूँजीपति हो गया है, और प्रेम के आधुनिक सिद्धान्त उसी अन्तर्विरोध और वर्ग भेद से प्रभावित हुए हैं, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था से पैदा हो रहे हैं। आजकल प्रेम का रूप पूँजीवादी और बुर्जुवाई है। मैं यह नहीं कहता कि प्रेम एक भावना नहीं है; मैं केवल यह कहता हूँ कि आज के भौतिकवादी वातावरण में प्रेम एक बुर्जुवाई भावना है, दया की भावना की भाँति।”

श्याम ने अपना लैक्चर समाप्त करते हुए दाएँ हाथ से एक चुटकी बजाई, जैसे उसने इस चुटकी से विरोधियों के तमाम तर्कों का खंडन कर दिया हो।

अब सब की दृष्टि सुक्खो पर गड़ी थी -- सुक्खो जो कहानीकार था । वह क्या कहना चाहता था, प्रेम के बारे में उसके क्या विचार थे, यह जानने के लिए क्लब के सारे मेम्बर आतुर हो उठे । सुक्खो आज इस तमाम बहस में मुंह फुलाए एक ओर बैठा रहा था । सब की आंखें अपने चेहरे पर लगी देखकर वह अपनी कुर्सी पर विकलतापूर्वक हिला, कस-मसाया और कहने लगा—“मैं तुम्हें एक कहानी सुनाना चाहता हूँ— यह कहानी आपबीती है ।”

“एक बार का जिक्र है ।” सुक्खो ने कहना आरम्भ किया “मुझे एक लड़की से पहली ही निगाह में प्रेम हो गया । मैंने उस जैसी सौन्दर्य की प्रतिमा आज तक नहीं देखी । जैसे-जैसे मैं उसकी ओर देखता जाता था, मेरा प्रेम बढ़ता जाता था और यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि मैं प्लाजा



थियेटर के तीसरे दर्जे में बैठा था और वह फ्रस्ट क्लास में, परन्तु फिर भी मेरे प्रेम का यह हाल था कि सिनेमा का पर्दा इधर था और मैं पीछे फ्रस्ट लास की ओर देख रहा था । खेल के समाप्त होने तक मुझे विश्वास हो गया कि परम पिता परमेश्वर ने मुझे एक अमर भावना से प्रेरित किया है । इसलिए

खेल खत्म होने के बाद मैंने इस शाश्वत भावना से उन्मत्त होकर

लड़की की कार की ओर देखा और फिर सावधानी से उसकी कार का नम्बर भी अपनी डायरी में नोट कर लिया ।”

“यह हमारे प्रेम का आरम्भ था । मैं यह नहीं बताना चाहता कि हम कहाँ मिले और कैसे ! मेरे प्रेम को किन नाजुक परिस्थितियों से होकर गुज़रना पड़ा ! मैं यह सब बातें जितेन्द्र, मनोविज्ञान-विशेषज्ञ—की कल्पना के लिए छोड़े देता हूँ । हाँ, इतना कहना काफी होगा कि हम दोनों बहुत जल्दी दोस्त बन गए, केवल दोस्त । उसने कभी मेरे माँ-बाप, घर-बार और सामाजिक स्थिति के बारे में प्रश्न नहीं किए । हाँ, वह मुझे पसन्द निश्चय ही करती थी । और फिर एक दिन मैंने लाल बाग में गुण्डों की छेड़छाड़ से उसे बचा लिया, यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि मैंने ही उन गुण्डों को किराए पर इस काम के लिए लगाया था और मैं ही लाल बाग ले गया था । यह कहिए कि मैंने सस्ते जासूसी उपन्यासों का हीरो बनने की पूरी कोशिश की । उस दिन से वह मुझे और भी अधिक पसन्द करने लगी और मैं तो उसके चरणों की धूल को भी माथे लगाता था । हम एक-दूसरे से जल्दी ही घुल-मिल गए । वह अपनी यात्रा की कहानियाँ सुनाती, जब वह अपने पिता के साथ पश्चिमी देश घूमने गई थी; और मैं हिसाब में अपनी उन नई खोजों और सफलताओं का जिक्र करता जिनसे आइन्सटाइन के सिद्धान्तों का खंडन होता था ।”

“बहुत खूब !” जितेन्द्र ने मजाक किया ।

सुखो कुछ क्षणों के लिए मौन हो गया । वह विषाद की मूर्ति बना खड़ा था । आखिर कुछ देर बाद वह धीरे से बोला—“कहानी सुनना चाहते हो, या नहीं ?”

जितेन्द्र ने माफी मांगते हुए कहा—“सौरी, ओल्ड मैन ।”

सुखो बोला—“हाँ, तो अब कहानी में क्या रखा है । मैं निश्चय ही खुश था और बहुत खुश था और बहुत समय तक खुश ही रहता यदि उपेन्द्र ने प्रेम के अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मेरी मति भ्रष्ट न कर दी होती । पूछ लो उपेन्द्र से कि इसने मुझसे कहा था कि अपनी

प्रेमिका से शादी का प्रस्ताव करो। कम्बख्त सामने बैठा तो है, पूछ लो न।”

“फिर क्या हुआ ?” हम सब ने एक साथ चिल्ला कर कहा।

“कुछ नहीं” सुखो ने शान्त स्वर में कहा—“उस दिन जब मैं उसके पढ़ने के कमरे में पहुँचा तो वह बड़े प्यार से उस समय आराम कुर्सी पर बैठी ऊँची आवाज में टैनीसन की कविताएँ पढ़ रही थी और अपने मधुर, कोमल और रसीले कंठ का स्वयं ही आनन्द ले रही थी। मुझे देखते ही कहने लगी—“हल्लो बुद्धू अडवानी।” वह मुझे इसी नाम से पुकारा करती थी।”

“हल्लो किर...की,” मैंने उत्तर दिया। मैं उसे इसी तरह पुकारा करता था।

“हल...लो, यह क्या, आज तुमने एक नई टाई बाँध रखी है ? रतो है ?”

मैंने अपने चेहरे पर एक म्लान, विषादयुक्त मुस्कान पैदा की और कुर्सी घसीट कर उसके निकट बैठ गया और धीमे स्वर में कहने लगा—

“पढ़े जाओ किर...की, पढ़े जाओ। मैं तुम्हारी मीठी आवाज सुनता रहना चाहता हूँ, यहाँ तक कि यह आवाज कीट्स की बुलबुल के नगमे की तरह मुझे अपने में समा ले। आह तुम्हारी आवाज किस कदर मीठी है।”

उसने और ऊँची आवाज में पढ़ना शुरू कर दिया। परन्तु अब वह चीख रही थी और बड़ी कड़वाहट से मेरी नक़ल उतार रही थी।

“कल मैंने वाई० एम० सी० ए० में पिंगपांग चैम्पियनशिप जीत ली।” मैंने अपने सिर के चारों चोर प्रकाश-मण्डल बनाते हुए कहा।

“बहुत खूब” किर...की ने जवाब दिया—“तुम एक दीवार के मुकाबले में खेल रहे थे ?”

“किरकी, मज़ाक की हद हो चुकी,” मैंने रूँधे हुए गले से कहा—

“मैं तुम से प्रेम करता हूँ, मजाक की हद हो चुकी। किर...की मेरी बात सुनो। मुझे तुमसे प्रेम है अगाध, असीम प्रेम। किर...की, क्या तुम मुझसे शादी करोगी?”

वह कुछ क्षण चुप रही, फिर गम्भीर मुद्रा बनाकर बोली—

“तुम्हारे पिता क्या काम करते हैं?”

“सच्चा प्रेम,” मैंने जवाब दिया, “धर्म, जाति, रंग और माता-पिता के बन्धनों से मुक्त, प्रेम, एक शाश्वत...”

“तुम एक महीने में कितना रुपया कमा लेते हो?” किरकी ने बात काटते हुए कहा।

“मैं साम्यवादी हूँ”—मैंने विरोध प्रकट किया।

“क्या तुम्हारे पास एक कार है?”

“कार तो नहीं, एक साइकिल ज़रूर है, जो मुझे रंजीत सिनेमा के बाहर पड़ी मिली थी।” मैंने व्याख्या करते हुए कहा।

किर की ने भट से घन्टी बजाई और उसका नौकर दाऊद कमरे के सामने दरवाज़े में दिखाई दिया।



“दाऊद” उसने कड़े स्वर में कहा—
उसके स्वर में क्रोध के साथ सतीत्व की भावना कूट-कूट कर भरी थी—“दाऊद, इस बदमाश को कमरे से निकाल दो।”

मुक्खो ने कहानी खत्म कर दी और अपने ख्यालों की दुनिया में खो गया।

जितेन्द्र और उपेन्द्र अपनी कुर्सियों पर इस तरह सहमे हुए बैठे थे, जैसे किसी मास्टर की घुड़की से बच्चे सहम कर बैठ जायें।



आतिशदान में जलती हुई लकड़ियों पर तेज-तेज शोले चमक जाते थे। यकायक क्लब के सब से पुराने मेम्बर ने अपना झुका हुआ सिर उठाया और सुक्खो के म्लान मुख की ओर देखकर कहा—

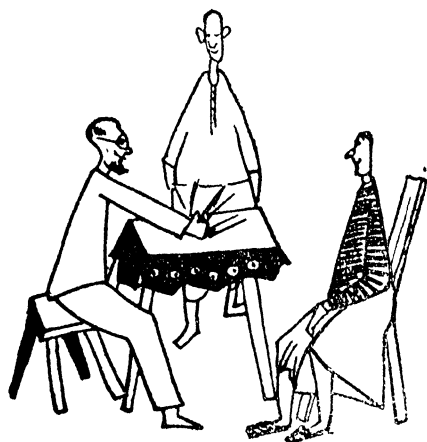
“बेटा सुक्खो, गम खाने से क्या होता है। इन्कलाब के लिए काम करो, और श्रुत करो कि अपने आध्यात्मिक प्रेम के बावजूद जिंदा हो, वरना अगर तुम किसी बुर्जुवाई उपन्यास के हीरो होते तो इस घटना के बाद निश्चय ही आत्म-हत्या कर लेते।”

माँगे की किताबें

६.

कल एक प्रतिष्ठित प्रकाशक बातों में मुझसे कहने लगे—“इस देश के पढ़े-लिखे लोगों में माँगकर किताबें पढ़ने की बीमारी है। जब तक इस बीमारी को दूर नहीं किया जाता, किताबों और पत्रिकाओं की बिक्री नहीं बढ़ सकती और लेखकों को उनकी रचनाओं का पारितोषिक नहीं दिया जा सकता।”

नरेन्द्र ने, जो पास ही एक लंगड़ी कुर्सी पर उकड़ूँ बंठा था, उनसे पूछा—“तो ऐसी क्या तदवीर हो सकती है जिससे यह अभिशाप पढ़े-लिखों से दूर हो सके। वे किताब माँग कर पढ़ने के बजाए खरीद कर पढ़ने लग जाएँ।”



“है तो यह टेढ़ी खीर, लेकिन” और रहस्योद्घाटन करने से पहले वे तनिक रुके। मैं सतर्क हो गया और नरेन्द्र सम्हल कर बंठ गया।

“मेरी योजना है”, उन्होंने एक-एक शब्द गिन कर अन्दासे कहा—

“एक लीग बनाई जाए, लीग...यानि संस्था। जिसकी सारे भारत में शाखाएं हों। इस लीग के कम से कम एक लाख मेम्बर हों और हर मेम्बर से एक प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कराए जाएं कि महीने में कम से कम वह दो रुपए की किताब अवश्य खरीदेगा। इस प्रकार किताबों की निकासी के साथ-साथ लेखकों की रोटियों का भी सन्तोषजनक प्रबन्ध हो सकता है।”

नरेन्द्र ने उछलकर कहा “वाह, क्या सुन्दर योजना है। न जाने पहले किसी को क्यों न सूझी। मगर इसको शुरू कैसे किया जाए?”

“यह शुरू करने की बात ज़रा कठिन है”, मैंने कहा “लीग का प्रधान कौन हो? इसके नियम क्या हों? इसकी कार्यवाही किस भाषा में हो और चन्दा लाने और रखने के लिए एक ईमानदार आदमी को कहाँ ढूँढा जाए?”

“बन्धुवर!” प्रकाशक महोदय ने मुझे चुप कराने के लिए कहा, “तुम्हें तो बाल की खाल उतारने और बात का बतंगड़ बनाने की बुरी आदत हो गई है। अमाँ यह सब बातें दोस्तों के सहयोग से सुलझाई जा सकती है। हमको प्रोपेगेंडा करना चाहिए और पैमपलेटों द्वारा लोगों को बताना चाहिए कि मांगकर किताबें पढ़ने के क्या-क्या नुकसान हैं। सच यह है कि पढ़े-लिखे लोगों में साहित्य का सक्रिय संरक्षण करने की भावना जगानी चाहिए। साहस और लगन से काम करने की देर है—लाख मेम्बर बना लेना कोई कठिन काम नहीं। और जिस दिन लाख मेम्बर बना लिए गए, साहित्य की काया पलट हो जाएगी।

“काया पलट नहीं, काया-कल्प कहिए। यह आजकल का फैशन हो गया है। जो जोरनाफ के बन्दरों से शुरू हुआ और मालवीय जी तक जा पहुँचा, और अब आप इसे साहित्य पर आजमाना चाहते हैं।” मैंने तनिक तेज़ होकर कहा, “भला कहीं पैमपलेट बाज़ी से पढ़े-लिखे लोगों की आदत को बदला जा सकता है? यह आपकी लीग कागज़ी बनकर रह जाएगी और प्रतिज्ञा-पत्र पर कोई न चलेगा। आप कैसी आध्या-

त्मिक बातें करते हैं श्रीमान् ।

नरेन्द्र एक लम्बी साँस भर कर बोला—“हाँ यह ठीक है । आप किसी को किताबें खरीदने पर मजबूर नहीं कर सकते । यह सचमुच एक हवाई और रूमानी सी योजना है ।

प्रकाशक महोदय ने मुस्कराते हुए मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा—“आपकी हठिले बच्चों की तरह बातें करने की आदत अभी तक गई नहीं ।”

+ + +

अब जैसे-जैसे मैं इस लीग की स्थापना पर गौर करता हूँ मुझे अफ़सोस होता है कि मैंने प्रकाशक महोदय की योजना का विरोध क्यों किया ? यह लीग एक क्रांति लाने वाली संस्था भले ही न बनें परन्तु कम से कम एक सुधारक संस्था तो जरूर बन सकती है । ‘टैम्परेंस लीग’ की भाँति । शराब खोरी की रोक-थाम की तरह, मांगे की किताबें पढ़ने की भी रोक की जा सकती है । या कम से कम इसके विरुद्ध लोगों की अच्छी भावनाओं को उभारा जा सकता है । पैमप्लेट निकाले जा सकते हैं । जलूस निकाले जा सकते हैं, जलसे किए जा सकते हैं । तनिक कल्पना कीजिए कि शहर के समस्त साहित्यिक मिलकर बाजारों से गुज़र रहे हैं । सब ने कागज़ की लम्बी-लम्बी टोपियाँ पहन रखी हैं । गत्तों पर मोटे-मोटे अक्षरों में शिक्षाप्रद नारे लिखे हुए हैं—

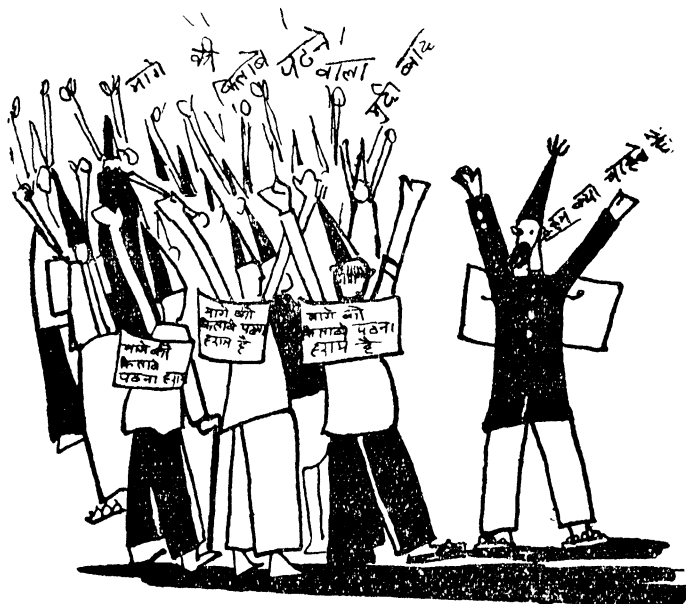
“मांगे की किताबें पढ़ना पाप है ।”

“ऊँट को सुई के नाके में से निकाला जा सकता है, लेकिन मांगे की किताबें पढ़ने वालों को स्वर्ग के द्वार से नहीं दाखिल किया जा सकता ।”

“जो मांगे की किताबें पढ़ता है, वह देश के साथ गद्दारी करता है ।”

और प्रकाशक महोदय अपनी गाँधी टोपी को आगे झुकाकर आवाज़ देते हैं—“हम क्या चाहते हैं ?”

और मैं उत्तर में कहता हूँ—“मांगे की किताब.....” अरर...र गलती हुई। मुझे कहना चाहिए था—“किताबों की बिक्री।” खैर इस बड़े जलूस में तूती की आवाज़ कौन सुनता है ?



नरेन्द्र चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है—“मांगे की किताबें पढ़ने वाला ?”

हम सब मिलकर चिल्लाते हैं—“मुर्दाबाद !”

और इस तरह शोर मचाता, गले फाड़ता हुआ यह जलूस बाजारों में से गुज़र जाता है।

आर्थिक और नैतिक दृष्टिकोण की बात अलग, पर यह एक मनो-वैज्ञानिक सत्य है कि जो आनन्द मांगे की किताबें पढ़ने से मिलता है, वह उन्हें खरीद कर पढ़ने से प्राप्त नहीं होता। किताब खरीद कर

आदमी इसी सोच में पड़ जाता है कि मैंने जो तीन रुपए खर्च करके यह किताब ली है, अच्छी भी है या नहीं। पढ़ते समय भी यही धड़का लगा रहता है कि कहीं ये तीन रुपए पानी में न बह जाएँ। किताब की अच्छाइयों पर नज़र कम जाती है, और लेखक बना फिरता है...लिखने की तमीज़ नहीं...क्या बकवास किताब है...उस किताब वाले की बातों में आकर तीन रुपए लुटा दिए। किताब खरीदते ही आदमी का दृष्टि-कोण बदल कर व्यापारिक हो जाता है।

इसके विपरीत अगर मांगे की किताब हो तो चित्त सदा प्रसन्न रहता है। जी में एक ठण्डक और आँखों में तरावट रहती है। आदमी की अच्छाई बुराई को निष्पक्ष होकर परखता है। उसके दोषों को लेखक की “इन्तानी कमजोरी” और “बाहरी हालत की मजबूरी” कह कर माफ कर देता है और उसकी अच्छाइयों को जी भर कर सराहता है। उसे बार-बार पढ़ता है और उसे लौटा देने में सदा हिचकिचाता है—‘हाय, कितनी अच्छी किताब है।’ और इसी लोभ में पड़कर उसे एक दिन ‘खो गई’ घोषित कर देता है। और हार, भूक मार कर उसका मित्र, जिसने उसे वह किताब दी थी, उस किताब की एक और प्रति खरीद लेता है, क्योंकि उसे किताब की ज़रूरत होती है (यदि ज़रूरत न होती तो वह किताब खरीदता ही क्यों?) इस प्रकार मांगे की किताब पढ़ने से एक किताब और बिक जाती है। मेरा अनुमान है कि यदि भारत में हर आदमी मांगे की किताबें पढ़े, तो हर एक किताब का प्रकाशन करोड़ों तक जा पहुँचे। बजाय इसके कि लोग मांगे की किताबें पढ़ने के विरुद्ध “जिहाद” करें, अपना हित इसी में है कि एक ऐसी लीग बनाई जाए जो हर हिन्दुस्तानी के हाथों में एक मांगे की किताब पहुँचाने की व्यवस्था करें। फिर देखिए कि साहित्य प्रगति करता है कि नहीं और लोगों में साहित्य का शौक पैदा होता है कि नहीं। मैं स्वयं अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर कहता हूँ कि मैंने संसार के श्रेष्ठतम लेखकों की किताबें, माँग-ताँग कर ही पढ़ी हैं। और जब भी मैं कोई

किताब खरीदता हूँ, मुझ से माँग कर पढ़ने वाले दोस्त उसे मुझ से अधिक पसन्द करते हैं। आनन्द किताब पढ़ने में नहीं, किताब माँग कर पढ़ने में है।

हाँ आर्थिक दृष्टिकोण से प्रकाशक महोदय का शिकवा ठीक है।

और हिन्दुस्तान के लेखकों की गरीबी और दुर्दशा एक मानी हुई वास्तविकता है। परन्तु उसका इलाज यह एक लाख मेम्बरों वाली लीग नहीं कर सकती।

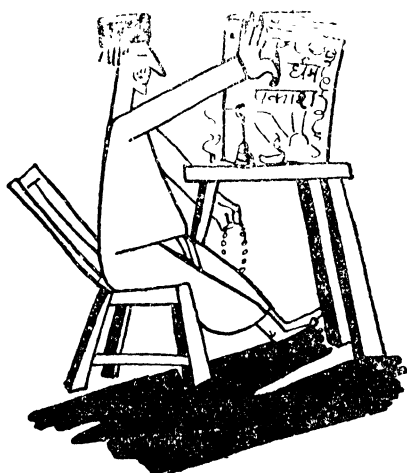
स्थिति का भयंकर रूप यह है कि भारत में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या कुल आबादी का १० प्रतिशत है। और उनमें से भी बहुत से नाम मात्र की ही पढ़े-लिखे हैं। जो लोग बाकी रह गए, ऐं उनमें से बहुत से ऐसे हैं जो ओकाड़ा मंडी और बम्बई भड़ोंच की रई का भाव जानने के लिए अखबार लेते हैं। अगर कोई पत्रिका मिल जाए तो उनमें श्री कृष्ण महाराज की मूर्ति ढूँढ़ने लगते हैं और यदि न मिले तो उसे लौटा देते हैं। फिर हलवाई और ढाबे वाले हैं जो अपने ग्राहकों के लिए प्रतिदित अखबार खरीदते हैं। फिर उस अखबार की जो दुर्दशा होती है— एक



एक पन्ना अलग किया जाता है, उस पन्ने के, कालमों लिहाज से टुकड़े-टुकड़े हिये जाते हैं। और फिर एक ग्राहक गटागट लस्सी पीता हुआ श्री मन्थन 'लुप्त' की सनसनी-खेज कहानी पढ़ रहा है। दूसरा ग्राहक गुलगुले खाते हुए

श्री 'दन्त' जी की जबड़ा तोड़ कविता पढ़ रहा है। इतने में तीसरा गाहक झपट्टा मार कर कहता है—'हाय, कोरिया का क्या हुआ ? सुबह से शाम तक अखबार सैकड़ों हाथों से गुजर जाता है और फिर दूकान बन्द करते समय हलवाई उसी अखबार में बासी पकोड़ियाँ लपेट कर किसी मुँह जैसे गरीब लेखक को दे देता है।

फिर वे लोग हैं जिन्होंने पेंशन पाली है या ठेकेदारी से छुट्टी पाली है और जमा पूंजी से एक मकान या कोठी बना ली है और अब अगला जन्म सुधारने की फिक्क में है। अब ये लोग दिन-रात माला जपते हैं और अपने पाप धोने की धुन में लगे रहते हैं। इन्हें भला प्रकाशक महोदय के साहित्य से क्या सरोकार ? ये लोग पत्रिकाएँ पढ़ते हैं, खरीदते भी हैं मगर कौन-सी ? 'धर्म प्रकाश' 'ज्ञान ज्योति' 'निर्वाण'। इसीलिए हिन्दुस्तान में सब से ज्यादा छपने वाली पत्रिकाएँ ये धार्मिक पत्रिकाएँ और अखबार ही हैं। अब जो बाकी रह गए उनमें से अधिक संख्या ऐसे लोगों की है जो सदा अंग्रेजी किताबें और पत्रिकाएँ खरीदते हैं। वे एक घटिया दर्जे



के अंग्रेजी लेखक की किताबें खरीद लेंगे। लेकिन 'वर्ना-क्लर लिटरेचर' नहीं खरीदेंगे। इस से इनके मानसिक स्तर के एक दम नीचा गिर जाने का डर रहता है। और अब जो बचे, उन्हें साहित्य से लगाव तो होता है पर महीने भर मेहनत करने के बाद उनकी जेब में एक रुपया भी नहीं होता और अगर होता है तो

कोई न कोई किताब वे अवश्य खरीद लेते हैं।

मेरे मोहल्ले में एक साहब रहते हैं जिनका मोटरों का कारबार है। एक और साहब है वह बैंक में नौकर है। मैं अपना अखबार पूरी तरह पढ़ने नहीं पाता कि मोटरों वाले साहब अखबार मंगा भेजते हैं। वह भी पूरा पढ़ने नहीं पाते कि बैंक के बाबू मांग बैठते हैं कि उन्हें अखबार दे दिया जाय, क्योंकि उन्हें दफ्तर जाना है। कभी तो अखबार पढ़कर वे लौटा देते हैं और कभी उनके नन्हें की अम्मा उसे चुल्हे में भौंक देती है। वास्तव में अखबार का इस से अच्छा प्रयोग क्या हो सकता है ?

वास्तव में मांगे की किताबें पढ़ना और मांगे को चीजों काम में लाना हिन्दुस्तानियों की एक विशेषता है। यहां केवल किताबें ही उधार नहीं दी जातीं, भुंके अपने उस मित्र की अब तक याद है जो एक दिन मेरा गर्म सूट मांग कर ले गया था और अभी तक लौटाने की किसी शुभ तिथि का इन्तजार कर रहा है। वह नई कुर्ती जो पड़ोसी ने बहुत से मेहमानों के आ जाने की वजह से मँगवाई थी, मेहमानों के चले जाने के बाद भी उन्हीं के कमरे की शोभा बनी हुई है। हिन्दुस्तान में जिन्दगी उधार के सहारे चलती है। साहूकार रुपया उधार देता है, ज़मींदार ज़मीन उधार देता है, और 'सस्ता पुस्तक भंडार' ग़रीब बच्चों को उपन्यास किराये पर देता है। यहाँ उपन्यास ही किराये पर नहीं दिये जाते बल्कि इन्सान भी गिरवी रखे जाते हैं और चाँदी के कुछ टुकड़ों के बदले आत्मायें उधार मिल जाती हैं। तुम मांगे की किताबों के विरुद्ध 'जिहाद' करते हो, लेकिन कौन है जो इन मांगे की आत्माओं के लिए जिहाद करेगा ! उधार चीजों के बारे में भुंके एक बात याद आगई। एक बार मैं देहात में घूमने गया। मेरे साथ एक जाट दोस्त था। उसकी उम्र चालीस वर्ष होगी, लेकिन उसकी शादी न हुई थी। जब मैंने पूछा तो उसने बताया कि हमारे इलाके में औरतों की बड़ी कमी है, क्योंकि कुछ समय पहले विशेषकर सिक्खों के काल में, लड़कियों को पैदा होते ही मार दिया जाता था। इसलिये औरतों की बड़ी कमी हो गई और इसी कारण वह अभी तक कुंवारा था। लेकिन उसके बड़े भाई की शादी हो चुकी

थी । और वह प्रायः उसी से उसकी पत्नी उधर मांग कर अपना काम चलाता था । यह कोई आश्चर्य की बात न थी । ऐसे बहुत से मुकदमें हुआ करते थे जिनमें कोई गरीब किसान, जब साहूकार या जागीर दार का सूद दर सूद नहीं दे सकता था तो अपनी पत्नी उसके यहां गिरवी रख देता था ।

अब जब मैं इन सब बातों पर विचार करता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं किसी देवता से कम नहीं हूँ, क्यों कि भारत की इस स्वर्ग-भूमि में, जहाँ मांगे की पत्नियाँ भी मिलती हैं, मैं केवल मांगे की किताबों पर सन्तोष करता हूँ ।

गाना कई प्रकार का होता है। एक प्रकार का गाना तो वह है जो प्रायः हमारे मध्यम वर्ग के घरानों में गाया जाता है, और यदि भाग निकलने का मार्ग न मिले, तो सुना भी जाता है। प्रायः एक घटिया-सा सस्ता हारमोनियम होता है। वैसे तो संगीत की दृष्टि से हर प्रकार का हारमोनियम निकृष्ट होता है, परन्तु जो हारमोनियम इन मध्यम वर्ग के घरानों में पाया जाता है, वह बहुधा तीसरे और चौथे दर्जे का होता है। परन्तु यह तो अप्रासंगिक विषय था। चर्चा तो गाने की थी। गाने के लिए, मध्यम वर्ग के घराने में हारमोनियम के अलावा एक लड़की भी अवश्य होती है। बहुत से घरानों में एक से अधिक भी लड़कियाँ होती होंगी; परन्तु साधारणतया एक ही काफी है। आप इस लड़की को जो चाहें, कहकर पुकारिए—विमला, कमला, प्रकाश। मतलब एक ही है, अर्थात् मध्यम वर्ग के घराने की लड़की, जो गाना जानती है और जिस पर समस्त घर वालों को 'गर्व' है। अब इस लड़की को आप ध्यान में रखिए और उस हारमोनियम की कल्पना कीजिए, जो मेज के ऊपर लकड़ी के उस बक्स में बड़ी सावधानी से बन्द किया हुआ रखा है, जिस पर खाकी जीन का या छोट का शिलाफ़ चढ़ा हुआ है।

इन घरानों में आम तौर पर गाना, खाने के बाद शुरू होता है; और इसकी प्रेरणा प्रायः वह अभागा मेहमान देता है, जो किस्मत का मारा, भूल से इधर आ निकलता है। खाने के पश्चात् पेट पर दो तीन बार हाथ फेर कर, और चार पाँच लम्बी डकारें ले कर, मेहमानदार

अपने मेहमान से पूछता है—“ताश-बाश खेलोगे ?”

“नहीं ।”

“एक दो बाजी ब्रिज की ?”

मेहमान एक जम्हाई लेकर कहता है—“जब से नौकरी की है, ब्रिज भी भुला बैठा हूँ ।”

“अच्छा तो फिर जा मुन्ने, ग्रामोफोन उठा ला ।”

जापान की प्रगति का महत्त्व न तो इस बात में है कि वहाँ के लोगों ने पाश्चात्य सभ्यता और विज्ञान को अपनाया है, और न इस बात में कि उन्होंने अपनी आविष्कार-बुद्धि से आश्चर्य-जनक काम लिया है । उसका महत्त्व तो केवल इस बात में छिपा है कि वे जापान के लोग भारत के मध्यम वर्ग को जापानी ग्रामोफोन, जापानी सिल्क, जापानी साइकिल, जापानी घड़ी, जापानी चित्र और इसी प्रकार की हजारों बेकार, मगर सस्ती चीजें भेज कर, उन्हें एक झूठे अहंभाव में उलझाए रखते हैं ।

उदाहरण के लिए इस ग्रामोफोन को लीजिए—देखने में सुन्दर, हल्का फुल्का, बिलकुल रेडियो-सा लगता है । मूल्य केवल पच्चीस रुपया । दसवें बारहवें दिन इसका फेनर (Fannor) टूट जाता है । परन्तु यह तो एक अप्रासंगिक बात है । असल बात तो है ‘गाना’ । इसलिए मेहमान-दार अपने मेहमान से कहता है—“आपने यह गाना सुना है, ‘पतली कमर तोरी बल खाए जाए’ ।”

“जी, हाँ मैंने फिल्म देखी थी ।”

“अच्छा, पर यह रिकार्ड ‘एक मेरे माही दी मुंदरी बाबू’, आपने अवश्य नहीं सुना होगा ?”

“हाँ,” मेहमान विवश होकर आत्म-समर्पण कर देता है—“यह तो नहीं सुना ।”

“तो अब सुनिए ।”

रिकार्ड बजना शुरू होता है । आधा रिकार्ड चलने के बाद फ़नर

टूट जाता है, या वैसे ही घड़ड़-घड़ड़ की आवाजें आने लगती हैं ।

मेहमानदार बुरा सा मुँह बनाकर आवाज देता है—“अरे मुन्ने, ग्रामोफोन बन्द कर दे (और फिर मुस्करा कर) विमला, बेटो विमला, अब तुम आओ । ज़रा इन्हें अपना गाना तो सुनाओ ।”

विमला मध्यम वर्ग की लड़की है, लज्जा के भारे कानों तक लाल हो जाती है और सिर झुका लेती है और इस प्रकार कि मेहमान को पूरा विश्वास हो जाता है कि विमला गाना तो क्या, बोलना भी नहीं जानती ।

मेहमानदार दूसरी बार, प्यार से परन्तु तनिक ऊँची आवाज में कहता है,—“विमला, हारमोनियम ले आना, वहाँ अलमारी में रखा है ।”

और मेहमान जिसकी पलकें नींद के मारे झुकी जा रही हैं, धीरे से विमला को उत्साहित करने के लिए कह देता है, “हाँ, विमला बहन कुछ सुना दो; सुना है तुम बहुत अच्छा गाती हो (फिर जल्दी से यह वाक्य जड़ देता है ।) राम भरोसे की माँ से सुना था ।”

और यह सब कुछ कोरा झूठ होता है । न बेचारी विमला अच्छी तरह गा सकती है, और न राम भरोसे की माँ गाना सुन सकती है, क्योंकि वह बहरी है । और फिर ‘बहन विमला’—इसका क्या किया जाए कि भारत में स्त्रियाँ केवल दो प्रकार की होती हैं—एक माएँ और दूसरी बहने । यदि सुन्दर हो, युवती हो, तो ‘बहन’; और कुरूप, अधेड़ और बूढ़ी हो, तो ‘माँ’ । स्त्रियों के बस यही दो प्रकार हैं, तीसरा कोई नहीं, क्योंकि विवाहित स्त्री, स्त्री नहीं रहती, पैर की जूती बन जाती है ।

अब विमला गाती है । बाप हुक्का पी रहा है, माँ पीढ़े पर बैठी, बेटो की ओर घूर रही है कि कहीं वह मेहमान को देख तो नहीं रही है...मध्यम बारीक कण्ठ से विमला गा रही है—“गला...हाँ गला... काढ लो गुलवदन, धीरे-धीरे ।”

मेहमान गाना सुनते-सुनते कल्पना संसार में विचरने लगता है । वह



देखता है कि कसाई तेज़ छुरी गर्दन पर रखे बैठा है, और नीचे बकरी मिमिया-मिमिया कर कहती है—‘गला...हां गला...काट लो गुलवदन धीरे...धीरे’। एक कसाई के लिए ‘गुलवदन’ की उपमा कितनी कोमल और कलात्मक है। इन कवियों का मस्तिष्क भी कितने अनोखे ढंग से काम करता है। मेहमान अभी यहां तक ही सोच पाता है कि विमला दूसरा गाना शुरू कर देती है—अब एक नई लय है—कोमल, करुण :—

तुम मेरे...तुम मेरे...मैं तेरी,
ऊँ...ऊँ...ऊँ।

तुम मेरे...तुम मेरे...मैं तेरी,
ऊँ...ऊँ...ऊँ।

और मेहमान सोचता है इस ‘ऊँ ऊँ’ का क्या अर्थ है, परन्तु कुछ

समझ में नहीं आता। अन्त में साहस बटोरकर पूछ ही लेता है—
“बहिन विमला, इस दूसरी लाइन में ‘ऊँ ऊँ’ का क्या अर्थ है ?”

और बहिन विमला लजाकर कहती है—“मैंने फिल्म में ऐसे ही सुना था।”

मध्यम वर्ग से ऊपर गाने का रूप पूर्णरूप से बदल जाता है; रूप के साथ-साथ उसका शृंगार भी बदल जाता है। हारमोनियम का स्थान गुंबद की भाँति गूँजता हुआ ऑर्गन (organ) ले लेता है—‘यह मैंने बारह सौ रुपये में लिया था; कुछ इतना बुरा भी तो नहीं।’ लजीली विमला के स्थान पर एक चंचला चपला, रंगीन होंठ, बे-बाक निगाहें—
“आप क्या सुनना पसन्द करेंगे ? ब्लियु डैन्स या प्रेस मूर की जैलोडी ?



...अच्छा, आप पश्चिमी संगीत पसन्द नहीं कर पाते ?...परन्तु सहगल तो कभी का पुराना हो गया—ऑर्गन पर उँगलियाँ फेरते हुए...“उस

दिन भाभी, कुमारी यूथिका राय का एक रिकार्ड ले आईं। यूं ही पसन्द आगया, जैसे रेडियो पर भी कोई-कोई चीज़ कभी-कभी पसन्द आजाती है।” उँगलियाँ फेरते-फेरते गाना शुरू कर देती हैं, और गाने के बीच में बार-बार देखती जाती हैं आपकी ओर। आप मुस्करा-मुस्करा कर गाना सुनते रहते हैं, और गाना समाप्त होने पर प्रशंसा-सूचक तालियाँ बजाते हैं—‘Divine; आप किससे गाना सीखती हैं?’

“बन्ने खाँ लखनवी से।”

“वे तो बहुत बड़े उस्ताद हैं।”

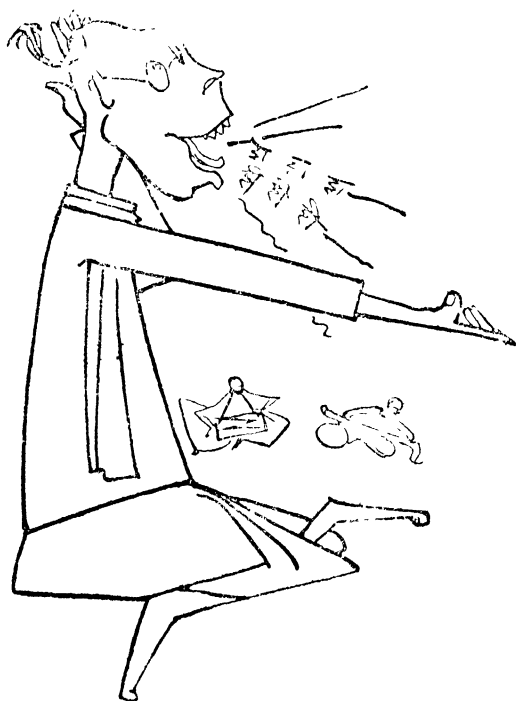
“हाँ, ढाई सौ से कम नहीं लेते। पापा कहते हैं कि गाना सीखना हो तो किसी लखनवी उस्ताद से सीखा जाए। नाच भी वही सिखाते हैं।”

वास्तव में मध्यम वर्ग से ऊपर गाना कम और नाचना अधिक होता जाता है।

और फिर गाना एक और प्रकार का होता है—उसका नाम है पक्का गाना अथवा ‘शास्त्रीय संगीत’। यह भी अद्भुत चीज़ है। इसके सम्बन्ध में प्रबल धारणा है कि इसे हर कोई नहीं समझ सकता। शायद इसी कारण इसे समाज के प्रत्येक वर्ग में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है। विशेषकर वह लोग, जो अपने को साहित्य और कला के ठेकेदार समझते हैं, शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त किसी अन्य ‘चीज़’ को पसन्द नहीं करते। ‘कोई चीज़ सुनाइए।’ यह ‘चीज़’ दूसरा नाम है शास्त्रीय संगीत का। ‘चीज़’ में आकर शास्त्रीय संगीत अपनी चरम सीमा को पहुँचता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति ‘कोई चीज़’ सुनने का इतना प्रबल अनुरोध करता दिखाई देता है। प्रत्येक व्यक्ति यही प्रयत्न करता है कि अपने को शास्त्रीय संगीत का पारखी सिद्ध करे।

मेरा अपना अनुभव है कि शास्त्रीय संगीत का पारखी बनने में कुछ अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। आठ-दस राग-

रागनियों के नाम याद हों—चीज़, कली, ताल, खेरन, पल्टा और इसी प्रकार के अन्य दो-चार नाम । तबले की थाप पर बैठे-बेठे एकदम फड़क उठिए । लोग कहें ‘अपने साहब भीम की गत क्या खूब बजा रहे हैं ।’ आप कहें, “नहीं साहब, हम तो तबले वाले की थाप पर मरे जाते हैं ।’ इसका परिणाम यह निकलेगा कि प्रत्येक सभा में लोग आपको शास्त्रीय



संगीत का उस्ताद और आचार्य मानने लग जाएगा । प्रत्येक गायक आप ही की ओर हाथ नचा-नचाकर और आँखों में आँखे डालकर गाएगा ‘तानी धानी पामागा धा तानीधा, ‘तानीधा ।’ और आप कड़ककर कहेंगे ‘वाह-वाह, चीज़ किस खूबी से उठाई है ।’

पुरखों से सुना था कि गाना आत्मा का प्रसाद है, परन्तु इन तीनों प्रकार के गानों में से एक भी गाना ऐसा नहीं जो आत्मा को प्रेरणा प्रदान कर सके। तीनों वर्गों के लोग गाना केवल इस कारण सुनते हैं, कि यह सभ्यता की एक मांग और सभ्य होने का एक लक्षण है। उनके मस्तिष्क की पृष्ठभूमि में सदैव यह डर छिपा रहता है कि यदि उन्होंने गाने के प्रति अरुचि या उदासीनता का परिचय दिया, तो वे असभ्य और साहित्य और कला से अनभिज्ञ समझ लिए जाएंगे। इसीलिए तो मोटी तोंद वाले रईस, बड़ी मूँछों वाले नवाब, बाते बनाने वाले प्रोफेसर और मेज पर सिर झुकाकर लिखने वाले बल्क, सब-के-सब अपने को गाने के रसिया और संगीत का प्रेमी घोषित करते हैं।

परन्तु गाना एक और प्रकार का होता है, चौथे और अन्तिम प्रकार का। यहाँ न हारमोनियम होता है न सितार, न वायलिन न ऑर्गन। यहाँ न कलियाँ बनाई जाती हैं, न पल्टे उठाए जाते हैं। एक छोटी-सी ढोलक होती है, और पचास-साठ मजदूर और उनकी पत्नियाँ और उनके बच्चे—'नज़रिया तोरी पै बलिहार, नज़रिया तोरी पै।' वे मिली-जुली, मोटी-पतली, सुरीली-बेसुरीली आवाजों में गाते हैं। कोई गाते-गाते खांसने लग जाता है; कोई गाते-गाते हँसने लग जाता है। कोई



ढोलक बजाता है; कोई घुंघरू छनकाता है; और कोई मुँह से ताल देता है। गन्दा-सा चौक, पर खुला। उज्ज्वल आसमान है और काँसी के कटोरे सा चमकता चाँद है। गाते हुए मजदूर, चमकता हुआ चाँद,

स्वतन्त्र परन्तु उल्लासपूर्ण रागिनी—मन को मुग्ध करने वाली, दिन-भर की थकान को हरने वाली । ज्ञानी लोगों ने सच ही कहा है—गाना आत्मा का प्रसाद है ।

विटामिन

११.

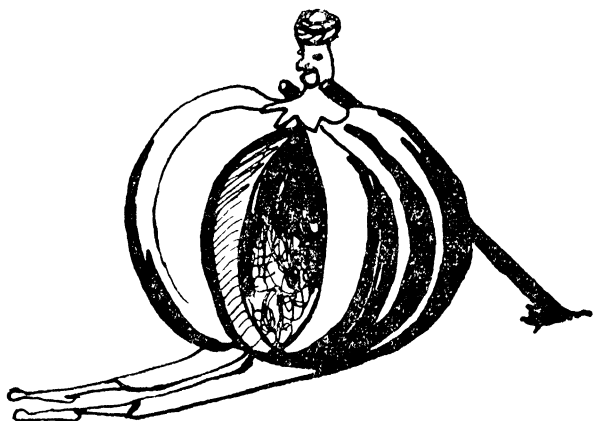
कहते हैं कि जीवन के लिए विटामिन उतने ही आवश्यक है जितना अंग्रेज के लिए नहर स्वेज। पहले-पहल विटामिन दो प्रकार का होता था—‘ए’ और ‘बी’ परन्तु अब तो विटामिन सारी वर्णमाला पर फैल गया है और यदि इसकी उन्नति को अब आगे न रोका गया तो इनके लिए एक नई वर्णमाला का निर्माण करना पड़ेगा।



संसार में मुझे जिन चीजों से घृणा है उनमें विटामिन भी सम्मिलित है। यही नहीं, वरन् मुझे उन सब चीजों से घृणा है जिनमें विटामिन बतलाया जाता है। जैसे करेले ! कैसे फड़ुवे, कसैले होते हैं। आकृति देखिए—कैसी ऊबड़-खाबड़। मैला हरा रंग, सड़ा हुआ शरीर, जिस पर सहस्रों भड़े दाग पड़े हुए होते हैं, मानो करेले को कोड़ या चेचक हो गई हो। टमाटर भी विटामिन का साला बना फिरता है। ऐसा चार-सौ-बीस और धोखे बाज 'फल' आपको संसार भर में नहीं मिलेगा। आकृति भोली-भाली एक अबोध बालक की भाँति ! लाल रंग, बिल्कुल कश्मीरी सेव या आलूबुखारा दिखाई देता है, परन्तु संधिये तो ऐसा लगता है मानो सात दिन से नहाया न हो। टमाटर न सेव जैसा मीठा है, न आलू-बुखारे जैसा खट्टा। इसमें एक विलक्षण नमकीन, बक-

बका-सा रस होता है जिसमें पीले-पीले दाने कीड़ों की भाँति कुलबुलाते फिरते हैं। परमात्मा जाने लोग टमाटर कैसे खाते हैं !

लोग कहते हैं कि कद्दू में भी विटामिन होता है। कद्दू को देखकर मेरे मन में सदा किसी बनिए के फूले हुए पेट की स्मृति जाग उठती है। बड़ा हुआ पेट, फूला हुआ पेट, सूद-दर-सूद पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, युद्धवाद—ये सारी कड़ियाँ जिन्होंने मानव-जाति के चारों ओर एक फौलादी जाल बुन रखा है, मेरे स्मृति-पटल पर उभरने लगती है। और मैं इनके निर्माण का सारा उत्तरदायित्व कद्दू पर रखता हूँ। प्रथम बात तो यह कि



यह बनिए के पेट की तरह इतना भौंडा होता है कि इसे खरीदने को जी नहीं चाहता। दूसरी बात यह कि इसका आकार इतना लम्बा-चौड़ा होता है कि न तो यह साग-भाजी की टोकरी में आ सकता है, न भोले में डाला जा सकता है। और न साइकिल के आगे लटकाया जा सकता है। अब इसके लिए और कोई छकड़ा लीजिए, या इसे तांग की सवारी कराइये परन्तु वहाँ भी इसके गिरने का डर बना रहता है। इन सारे कष्टों के बाद घर जाकर इसे काटिए तो अन्दर से खाली ! बाहर से यह जितना मोटा दिखाई देता है अन्दर से उतना ही थोथा होता है। केवल कुछ

सुकड़े हुए बीज, मानो सर्दों से ठिठुर रहे हों, किनारे पर लगे हुए होते हैं ।

कटू का स्वाद ? इसका साग खाकर देखिये—न मीठा न नमकीन । या यूँ कहिये कि यह मीठा भी है और नमकीन भी । मुझे ऐसी वस्तुएँ और ऐसे व्यक्ति रत्ती भर भी पसन्द नहीं जो यह निर्णय न कर सकें कि वे जीवन में क्या बनना चाहते हैं । वे लोक सत्तावाद पसन्द करते हैं या कुछ और; वे शान्ति और स्वतन्त्रता के पक्ष में हैं या उसके विरुद्ध; कुछ व्यक्ति आयुपर्यन्त अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध में निर्णय नहीं कर सकते ।

बैंगन ! अहा ! बैंगन की प्रशंसा में हिन्दी कवियों ने आकाश-पाताल एक कर दिया है । इसका सांवला-सलोना श्याम रंग, इसका गुदगुदापन, इसकी लचक ! तरकारियों में इसका वही स्थान है जो चार वर्गों में ब्राह्मण का होता है ।



मैं बैंगन का विरोधी नहीं हूँ । यदि कुछ और तरकारी खाने को न मिले तो मैं इसे खा लेता हूँ—भूखा नहीं रहता । बागीचे में छोटे-छोटे पौधों में बैंगनों को लटकते हुए देखकर मुझे सदा परमात्मा की अपार दया की अनुभूति होती है । परन्तु क्षमा कीजिये । मुझे इसका रंग पसन्द नहीं । बहुत कम बैंगन सांवले-सलोने होते हैं । अधिकांश बैंगन जामनी बल्कि काले होते हैं । और इसकी लम्बी आकृति तो बिल्कुल किसी पुराने रोगी के चेहरे जैसी होती है, और इसकी डंडी पर इतने कांटे होते हैं कि नरमी का नाम तक नहीं होता । आकृति तो लम्बी थी ही, परन्तु डंडी भी इतनी लम्बी है कि दूर से देखने पर

ऐसा लगता है मानो किसी ने चूहे को फांसी पर लटका रखा है। बीज इतने बेस्वाद होते हैं कि न खाए जा सकते हैं और न उगले जा सकते हैं। और उस पर भी यह दावा कि मैं विटामिनों से भरपूर हूँ। कभी-कभी यही सोचकर जी चाहता है कि विटामिन कहीं अकेला मिले तो कच्चा चबालूँ। पर वह किसी न किसी अन्य वस्तु में छिपा रहता है और इस तरह अपने प्राण बचाए रखता है।

भिंडी को भी आप जानते होंगे। हर दूसरे-तीसरे दिन मेज पर धरी होती है। रूखे-सूखे टुकड़े—जैसे किसी भौड़ी आन्त के कटे हुए टुकड़े। यदि भिंडी को साबुत पकाया जाए तो इसकी वपचपाहट से मितली आने लगती है। यदि मांस में डालकर खाई जाए तो सारे शोरबे को लेसदार बना देती है। लोग इसे बड़े चाव से खाते हैं और हकीम-वैद्य प्रायः निःसन्तान रोगियों को भिंडी खाने का परामर्श देते हैं ताकि भारत में जो तीस करोड़ चूहे बसते हैं उनमें कुछ और भरियल चूहे सम्मिलित हो जाएँ। वास्तव में भिंडी के लेस से गोंद-दानियाँ भरी जातीं और भारत में एक नए उद्योग की नींव डाली जाती। परन्तु लोग हैं कि विटामिन और सन्तान-वृद्धि के चाव में भिंडी खाए जा रहे हैं।

जितनी घृणा मुझे तरकारियों से है उतना ही प्रेम फल से है। फलों में मुझे सेव, नाशपाती, अंगूर, सन्तरे बहुत पसन्द हैं। वर्षों तक मैं यही सोचकर फल खाता रहा कि इनमें विटामिन नहीं होते। परन्तु एक दिन एक डाक्टर साहब ने यह अशुभ समाचार सुनाया कि फलों में भी विटामिन होते हैं। लीजिए, विटामिन न हुए परमात्मा के प्रतिनिधि हो गए—जहाँ जाइए, जो खाइए, वे वहीं विद्यमान हैं।

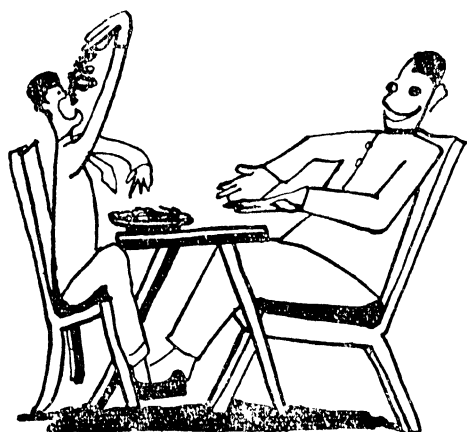
जिस समय उपरोक्त डाक्टर महोदय ने यह बात बतलाई, उस समय संयोग से मैं सेव खा रहा था। मैंने उनसे कहा कि सुझाव करके मुझे यह बता दीजिए कि विटामिन सेव के किस भाग में होते हैं ताकि मैं उस भाग को काटकर फेंक दूँ और शेष सेव को शान्ति के साथ खा सकूँ।

डाक्टर साहब ने गम्भीरता-पूर्वक उत्तर दिया—“सेव के छिलके में।

सेव को छीलकर नहीं, वरन् छिलकों सहित खाना चाहिए।”

पहले तो मैं समझा कि डाक्टर साहब मज़ाक कर रहे हैं परन्तु फिर ज्ञात हुआ कि वे अक्षरशः ठीक कह रहे हैं। कहते हैं कि विटामिन खाने की वस्तु है और हमारे भोजन में उसका विद्यमान होना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु परमात्मा की लीला देखिए कि यह प्रायः पदार्थों के ऐसे भागों में पाया जाता है जो खाए न जा सकें। सेव का ही उदाहरण लीलिए—विटामिन सेव के गूदे में नहीं वरन् उसके छिलके में पाया जाता है। नाशपाती के भी छिलके में ही विटामिन पाया जाता है। सन्तरे के रेशों में, आम के रूएं में, अर्थात् फलों के उस भाग में होता है जो बे-स्वाद, कड़वा, कठोर और खराब होता है। अधिकतर वह भाग ऐसा होता है जो खाने के योग्य ही नहीं होता। विटामिन की गिरी हुई रूचि का इससे अधिक अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है ?

नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चला है कि विटामिन केवल फलों और तरकारियों में ही नहीं वरन् अन्न और दालों में भी पाया जाता है। परन्तु उनमें भी यह ऐसे-वैसे भागों में ही होता है। अर्थात् यह चावल में नहीं, चावल के खोल में होता है, और गेहूं में नहीं उसके छिलके में रहता है।



इसीलिये डाक्टर लोग आग्रह करते हैं कि गेहूं के आटे से छान-बूर अलग न करो। हे करुणा-सागर, दया-निधान परम प्रभो !

अब मैं अपने यहाँ आने वालों की, जो विटामिन के भक्त

और चाहने वाले होते हैं, बड़ी अच्छी तरह आवभगत करता हूँ। साग-भाजी के अतिरिक्त उन्हें फल भी खिलाता हूँ। स्वयं सेव का गूदा खाता हूँ और उन्हें उसका छिलका खाने को देता हूँ। स्वयं चावल खाता हूँ, और उनके लिये धान के छिलके उबालकर रखता हूँ। स्वयं आटे के नरम नरम पराठे खाता हूँ और धान-बूर की रोटी उनकी सेवा में उपस्थित करता हूँ।

आप को भी यदि विटामिन से प्रेम हो तो कभी सेवक के यहाँ दर्शन दीजिये। परमात्मा ने चाहा तो ऐसे-ऐसे विटामिन खिलाऊंगा कि मन सदा के लिये भर जाए। पता है—२७ तिलक रोड, पूना-३।

जिन दिनों मैं कहानियाँ लिखा करता था, गल्प-कला को साहित्य की समस्त शाखाओं में सबसे श्रेष्ठ और सबसे अधिक कठिन समझता था। भूमिका लिखने के सम्बन्ध में तो मेरी धारणा थी कि यह सबसे सरल साहित्यिक कृति होती है। साहित्य आलोचना के दो-चार गुरु लो, उनमें दो-चार विख्यात साहित्य-समालोचकों के कुछ सुन्दर वाक्य जोड़ो, और 'कल्पना', 'शैली', 'परिपाटी', 'कला' आदि शब्दों को बीच-बीच में दोहराते जाओ, बस एक बढ़िया भूमिका तैयार हो गई। इसी धारणा के कारण मैं 'भूमिका-लेखकों' को 'साहित्यिक मुफ्त-खोरे' कहा करता था।



अब कुछ दिनों से मेरा ध्यान गल्प लिखने से हटकर भूमिका लिखने की कला की ओर प्रवृत्त हो रहा है। और अब मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यह काम इतना सरल नहीं है जितना मैं समझता था। यही नहीं, वरन् अब मेरा यह विचार है कि कहानी लिखने का काम भूमिका लिखने से कहीं अधिक सरल है। गल्प लिखने में गल्पकार अपने भावों से जिस तरह चाहे खेल सकता है। वह जिस तरह चाहे

घटनाओं को तोड़-मरोड़ सकता है—उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार ढाल सकता है। यदि वह नायक से नाराज हो जाए तो उससे आत्महत्या करा सकता है, उसे विष दे सकता है, पहाड़ की चोटी से गिराकर पार कर सकता है अथवा किसी के हाथों उसका गला कटवा सकता है। परन्तु यदि आप किसी पुस्तक की भूमिका लिख रहे हैं तो आप उस पुस्तक के लेखक को किसी ऐसी बात के लिये विवश नहीं कर सकते। आप उसकी रचना का एक शब्द भी इधर से उधर नहीं बदल सकते। आप अपनी कहानी जब चाहें फाड़ डालें, परन्तु यदि आपको किसी पुस्तक की भूमिका लिखनी हो तो आप उसके साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते।

ज्यों-ज्यों मैं भूमिका लिखने की कला का अध्ययन करता हूँ मुझे यह कला अथाह समुद्र की भाँति लगने लगती है। भारतीय संगीत की भाँति भूमिका-लेखन का आदि और अन्त ज्ञात नहीं हो सकता। मुझे इसकी गहराई और निःसीमता से डर लगता है। परन्तु जब मैं देखता हूँ कि साहित्य के समुद्र में जिस अमूल्य मोती को मैं ढूँढ़ रहा हूँ वह मुझे नहीं प्राप्त होगा, और जब मैं देखता हूँ कि हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ विचारक और साहित्यकार वे लोग हैं जिन्होंने आयु-पर्यन्त भूमिका लिखने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं किया तो मैं और भी संलग्नता और तन्मयता के साथ भूमिका लिखने में व्यस्त हो जाता हूँ। आप चाहे कितने ही उच्चकोटि के कवि, उपन्यासकार, नाटककार एवं गल्पकार हों, आपको कोई पूछेगा भी नहीं। परन्तु यदि आप एक भूमिका लिख दें तो साहित्य-जगत् में आपका नाम नक्षत्र की भाँति चमक उठेगा। हर साहित्यकार आपकी प्रशंसा में धरती और आकाश एक कर डालेगा और आपसे मिलने, बात करने और अपनी नई पुस्तक की भूमिका लिखवाने के लिए सिर-तोड़ कोशिश करेगा। नेतागिरी के बाद भूमिका-लेखन ही एक ऐसी कला है जिससे कोई व्यक्ति हमारे देश में अक्षय कीर्ति एवं ख्याति प्राप्त कर सकता है। और फिर भूमिका-लेखन के लिये कोठी की आवश्यकता है और न कार की।



ख्याति प्राप्त करने के अतिरिक्त भूमिका-लेखन के और भी कई लाभ हैं। उदाहरणतया, पुस्तक के लेखक से आपका सम्बन्ध सदा के लिये स्थापित हो जाता है, और वह आयु-पर्यन्त आपका कृतज्ञ रहता है। कभी किसी सभा-सम्मेलन में वह आपके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं

कह सकता, क्योंकि आपने उसकी पुस्तक की भूमिका लिखी है, और सब साहित्यकार इस बात को जानते हैं। यदि वह आपके विरुद्ध कुछ कहता भी है तो यार लोग तुरन्त उसके स्वभाव की आलोचना कर डालेंगे और उसे 'कमीना' तक कहने से भी नहीं चूकेगे। इसलिये मैं समझता हूँ कि मित्रों की अपेक्षा विपक्षियों की पुस्तकों की भूमिका लिखना अधिक लाभदायक रहता है। यह एक ऐसा गुर है जिसे बहुत कम भूमिका-लेखक जानते हैं, परन्तु जिसके अचूक होने में किसी को रत्तीभर सन्देह नहीं करना चाहिये।

भूमिका का एक लाभ यह भी है कि इससे पुस्तक को समझने में सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में मैं यह भी कह दूँ कि कोई-कोई भूमिका इतनी बढ़िया होती है कि उसे पढ़ने के पश्चात् पुस्तक को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। और मेरे विचार में तो एक अच्छी भूमिका का यही ध्येय होना चाहिये। यह ठीक है कि ऐसी आदर्श भूमिकाएँ बहुत कम लिखी जाती हैं। और यदि लिखी भी जाएँ तो पुस्तक के लेखक उन्हें पुस्तक में सम्मिलित करने से इन्कार कर देते हैं। परन्तु इस स्थिति

के लिये भूमिका-लेखक को सदा तैयार रहना चाहिये। इस प्रकार भूमिका-लेखक केवल अपने परम-कर्तव्य का ही पालन नहीं करता, वरन् वह जनता की सेवा भी करता है। आज का युग संघर्ष और मुकाबले का है। जीवित रहने के लिये साधारण लोगों को इतना परिश्रम और भाग-दौड़ करनी पड़ती है कि वे साहित्य के अध्ययन के लिये अधिक समय नहीं निकाल सकते। वे उपन्यास छोड़कर छोटी कहानियां पढ़ते हैं, रंग-मंच के स्थान पर सिनेमा से मन बहलाते हैं और समाचार-पत्र पढ़ने के स्थान पर रेडियो से समाचार सुनकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। और अब वह दिन भी दूर नहीं कि वे पुस्तक पढ़ने के स्थान पर केवल उसकी भूमिका पढ़ा करेंगे।

भूमिकाएं कई प्रकार की होती हैं। एक वे जो लिखी जाती हैं, एक वे जो लिखी नहीं जातीं। दूसरी प्रकार की भूमिकाओं में वे भूमिकाएं सम्मिलित हैं जिनको पुस्तक के लिखने वाले सज्जन स्वयं लिखकर उन पर किसी का झूठा अथवा काल्पनिक नाम दे देते हैं। अथवा यह भी होता है कि किसी भूमिका पर किसी व्यक्ति का नाम उसकी अनुमति के बिना ही दे दिया जाता है। पिछले दिनों एक सज्जन को जो कैम्बल-पुर में दर्जी हैं अपनी अप्रकाशित कहानियों के लिये एक भूमिका की आवश्यकता अनुभव हुई। उन्होंने भट से अपने एक मित्र को पत्र लिख दिया। वह मित्र एक विख्यात 'भूमिका-लेखक' को जानता था। मित्र ने 'भूमिका-लेखक' से तो भूमिका न लिखवाई, वरन् अपने मित्र को कैम्बल-पुर लिख भेजा कि वह स्वयं एक भूमिका तैयार कर ले और उसमें जो जी चाहे लिख ले और उस पर 'भूमिका-लेखक' सज्जन का नाम दे दे। परन्तु परमात्मा का धन्यवाद है कि समय पर उसे सारी बात का ज्ञान हो गया और उसने स्वयं एक छोटी-सी भूमिका लिखकर पीछा छुड़ाया। परन्तु यह तो एक संयोग था, अन्यथा ऐसी स्थिति में साधारणतया यह होता है कि भूमिका-लेखक को भूमिका के सम्बन्ध में तब ज्ञात होता है जब पुस्तक छपकर उसके हाथ में पहुँच जाती है। और जब वह भूमिका

में यह वाक्य पढ़ता है—“श्री श्याम कैम्बलपुरी की कहानियां विषाद, करुणा और पीड़ा के भावों में डूबी हुई हैं। गल्पकला की दृष्टि से वे हमें मुन्ना प्रेमचन्द की कोटि के कलाकार दिखाई देते हैं।”—तो भूमिका-लेखक के मन में उस समय जो भाव उठते हैं उसका अनुमान कुछ बही लोग लगा सकते हैं जिनका रुपया बैंक से किसी जाली हस्ताक्षर बनाने वाले ने हथिया लिया हो।

साधारण नियम यह है कि पुस्तक के लेखक और भूमिका के लेखक दो विभिन्न व्यक्ति होते हैं। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर बताया, कभी-कभी पुस्तक का लेखक स्वयं भूमिका-लेखक भी बन जाता है। यह वह ऊँचा स्तर है जहाँ दुई मिट जाती है और पुस्तक भूमिका में और भूमिका पुस्तक में लीन हो जाती है। परन्तु यह काम बड़ी जोखिम का है। इसे करने का बही साहित्यकार साहस कर सकते हैं जो अध्यात्मवाद के ऊँचे स्तर पर पहुँच चुके हों।

भूमिका साधारणतया दो तरह से लिखी जाती है—(१) पुस्तक पढ़कर; और (२) बिना पुस्तक पढ़े। पहली रीति को केवल बही भूमिका-लेखक काम में लाते हैं जो अपने काम के नौसिखिये हों। परन्तु जो अनुभवी और दक्ष भूमिका-लेखक हैं वे कभी पुस्तक नहीं पढ़ते। यही नहीं, वरन् वे प्रायः पुस्तक के नाम, लेखक के नाम और पुस्तक में क्या लिखा है—इन सब बातों से भी अनभिज्ञ होते हैं। किसी और बात में न सही, परन्तु भूमिका-लेखन की कला में तो निःसन्देह हम पाश्चात्य देशों से आगे निकल गए हैं।

मे ऊपर बता चुका हूँ कि किसी अच्छी भूमिका के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका पुस्तक के विषय से कोई सम्बन्ध हो। उदाहरण के तौर पर यदि आपको श्री चन्द्रभानु अग्निहोत्री के नए काव्य ‘महान् आकांक्षा’ पर भूमिका लिखनी हो तो आप उसे इस तरह प्रारम्भ कर सकते हैं:—

“मैं मसूरी में अपनी कोठी ‘तारिका’ में बैठा हुआ अपनी नन्ही

लड़की प्रियम्बदा से बातें कर रहा था। प्रियम्बदा बड़ी चंचल है। (उसकी शरारतों के सम्बन्ध में कुछ मनोरंजक घटनाओं का उल्लेख) इतने में श्रीमती जी मुस्कराती हुई अन्दर आईं। मेरी धर्मपत्नी को मुस्कराने और पान खाने की बहुत बुरी आदत है। (श्रीमतीजी के सम्बन्ध में कुछ



वाक्य) मेरी जीवन-संगिनी ने मुझे अग्निहोत्री जी का एक पत्र लाकर दिया जो अभी-अभी डाकिया दे गया था। मसूरी में डाक का प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं है। बिजली और गरम पानी का प्रबन्ध भी अच्छा नहीं है। (बिजली, गरम पानी और मसूरी की म्युनिसिपल कमेटी के सम्बन्ध में एक पृष्ठ) मैंने पत्र खोलकर पढ़ा। अग्निहोत्री जी की शैली सचमुच बड़ी मनोरंजक है। पत्र पढ़कर मैं बहुत प्रसन्न

हुआ। जब मैं पत्र पढ़ रहा था तो अग्निहोत्री जी की आनन्द-विभोर आंखें मानो मेरे सामने चमक रही थीं। (अग्निहोत्री जी की प्रकृति और रंग-रूप तथा स्वभाव के सम्बन्ध में एक पृष्ठ। बल्कि हो सके तो दो पृष्ठ) अग्निहोत्री जी ने मुझसे अपनी पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए कहा था। भला मैं किस योग्य हूँ कि उनके महाकाव्य की भूमिका लिखूँ। साहित्य का आदर्श बदल गया है और साहित्य नई दिशाओं में चल रहा है—यही बात मैंने अखिल भारतीय साहित्य-परिषद् के अधिवेशन के अवसर पर कही थी। इस अधिवेशन का मैं सभापति था। (अधिवेशन के अवसर पर दिए गए अध्यक्षीय भाषण का संक्षेप दो पृष्ठों में) जहां तक भूमिका लिखने का सम्बन्ध है, मैं इसे निरर्थक समझता हूँ। साहित्य किधर प्रगति कर रहा है, मुझे तो यही चिन्ता दिन-रात सताती रहती है। इस चिन्ता के कारण मेरा स्वास्थ्य खराब हो गया है। डाक्टरों की सम्मति है कि... (यहाँ डाक्टरों की सम्मति विस्तारपूर्वक देनी चाहिए, और वह सम्मति बहुत संकटपूर्ण होनी चाहिए, नहीं तो सारी भूमिका का स्वाद मारा जाएगा) अस्तु, कुछ भी हो, मुझे अग्निहोत्री जी की इच्छा के सामने सिर झुकाना ही पड़ेगा। अपने मित्रों के लिए मनुष्य क्या कुछ नहीं कर डालता ! मुझे याद है कि कब मैंने पहली भूमिका लिखी थी (पहली भूमिका कब, किन परिस्थितियों में और कैसे लिखी गई थी तथा उसके पश्चात् जितनी भूमिकाएँ लिखी गईं उनका क्रमशः थोड़ा-थोड़ा विवरण—चार पृष्ठ)। अग्निहोत्री जी ने काव्य की रचना की है। पुराने काव्यों में रामायण बहुत उच्चकोटि का काव्य है। (रामायण पर पांच पृष्ठ) अग्निहोत्री जी के काव्य के क्या कहने ! बहुत ही सफल रचना है। (भाषा के कुछ अलंकारों का वर्णन) भाषा मुहावरेदार है और काव्य में एक सबल प्रवाह है। उपाएँ अनूठी हैं। वर्णनशैली अनुपम है। अग्निहोत्री जी अभी युवक हैं, परन्तु प्रगतिवादी साहित्यकारों की भाँति वे पथ-रहित नहीं हैं। (प्रगतिवादी साहित्य और साहित्यकारों के विरुद्ध जितने पृष्ठ चाहें लिख दें।)

अग्निहोत्री जी यदि इसी प्रकार उन्नति करते रहे तो निःसन्देह एक दिन साहित्य रूपी आकाश में सूर्य बनकर चमकेंगे ।”

सेवक—रामचन्द्र द्विवेदी

‘तारिका’, मसूरी

१०-८-१९४२



देखा आपने ? इस ढंग से आप बीस-पच्चीस पृष्ठों की भूमिका सरलता के साथ लिख सकते हैं, और अमर ख्याति प्राप्त कर सकते हैं । कई पुस्तकों में आपने देखा होगा कि भूमिका पुस्तक का तीन-चौथाई भाग होती है और मूल पुस्तक एक चौथाई भाग । परन्तु इस कला को इतनी ऊँचाई पर पहुँचाने के लिये बड़े अभ्यास, सहनशीलता और परिश्रम की आवश्यकता है ।

भूमिका में उस स्थान का नाम जहाँ भूमिका लिखी गई हो, बहुत महत्त्व रखता है उपरोक्त भूमिका के अन्त में ‘मसूरी’ का नाम भूमिका के स्तर एवं महत्त्व को बहुत ऊँचा उठा देता है । इसके विपरीत यदि आप ‘तारिका’ मसूरी के स्थान पर ‘चंगड़ मुहल्ला, लाहौर,’ ‘बाजार माई सेवा, अमृतसर’ या ‘खारी बावड़ी, देहली, लिखें तो भूमिका दो कौड़ी की हो जाएगी और न कोई उस पुस्तक को पढ़ेगा और न आपकी

भूमिका को । इसलिये भूमिका और पुस्तक की सफलता के लिये अपनी कल्पना के विस्तार को बढ़ाएं । यदि आप देहली में रहते हैं तो भूमिका के नीचे 'सन्नी व्यू, गुलमर्ग' लिखिये, अमृतसर में हों तो 'ग्लेशियर व्यू, मसूरी' लिखिये, और पटना में हों तो 'लेक व्यू, नैनीताल' लिखिये । मैं कहता हूँ कि मसूरी और गुलमर्ग भी आप क्यों लिखें ? आप बेधड़क लिखें—'मेअरी मावलिन कालिज, आक्सफोर्ड', 'स्ट्रीट फोर्ड-ग्रॉन-ग्रावन, इंग्लैंड' । आपकी भूमिका को चार चांद न लग जाएं तो कहना ।

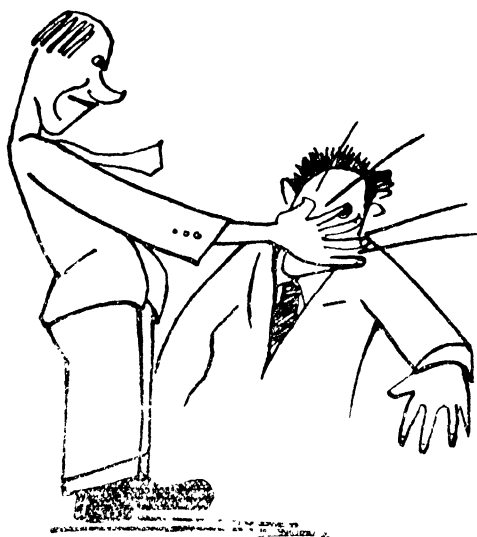
यह जो कुछ मैंने लिखा है यह वास्तव में मेरी उस पुस्तक की भूमिका है जो मैं 'भूमिका-लेखन-कला' पर लिख रहा हूँ । यह पुस्तक हिन्दी निकेतन, मद्रास से प्रकाशित होगी । मूल्य २॥) प्रति । डाक-व्यय खरीदार के जिम्मे । दीवाली, क्रिसमस और स्वतन्त्रता-दिवस के अवसरों पर यह पुस्तक आधे मूल्य में बेची जाएगी । अभी से आर्डर दे दीजिये, अन्यथा दूसरे संस्करण की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।

जान-पहिचान वाले

१३.

अनजानों और शत्रुओं को छोड़कर मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो मित्र—अर्थात् केवल मित्र, सिर से पाँव तक मित्र, बेतकल्लुफ, बेहया, और बेशर्म मित्र। इनसे मिलकर चित्त सदा प्रमन्न होता है, क्योंकि एक तो ये हमारे ही रंग में रंगे होते हैं और दूसरे इन्हीं के सहारे जीवन बिताना होता है।

दूसरे प्रकार के लोग वे होते हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'एक्वेन्टन्स' और



हिन्दी में 'जान-पहचान वाले' कहा जाता है। सच तो यह है कि मुझे इन 'जान-पहचान वालों' से अत्यधिक घृणा है।

यद्यपि ये लोग आपको कभी-कभी मिलते हैं, परन्तु जब भी मिलते हैं, आपको इतनी कोपित होती है कि जी चाहता है, इनके मुँह पर एक तमाचा जड़कर कहा

जाए, 'नमस्कार, सेवक अब चलता है। आशा है फिर कभी दर्शन होंगे।' कुछ थोड़ी-सी असभ्यता तो है, परन्तु मैं सोचता हूँ कि यदि यह असभ्यता मित्रों के साथ बरती जा सकती है तो जान-पहचान वालों के साथ बरतने में क्या आपत्ति है।

उदाहरणतः उस दिन की घटना को लीजिए। मैं अनारकली में एक दूकान के बाहर कुर्सी पर बैठा आलू की टिकिया खा रहा था, जैसा कि शिष्ट भारतीयों का पुराना चलन है। यद्यपि कभी-कभी बाजार में मोटरों के तेज-तेज गुज़र जाने से, थोड़ी सी उड़ती हुई मिट्टी गले में भी पहुँच जाती है किन्तु इसका क्या है? यदि हम ही अपने पुराने चलन का पालन न करेंगे तो कौन करेगा? अंग्रेजों को देखिए, क्या उन्होंने भी गर्मियों में हमारे ढीले-ढाले पाजामे, धोतियां और तनजेब के कुरते पहने हैं? यदि नहीं, तो हम क्यों बाजार में बैठकर आलू की टिकिया खाना और चाय पीना छोड़ दें?

क्षमा कीजिए, मुझे क्या कहना था और क्या कह गया। वास्तव में बात यह है कि मेरा स्वभाव बहुत उग्र है। कुछ तो आलू की टिकिया ठंडी थीं, और कुछ बाजार में उड़ती हुई धूल—इन कारणों से मैं और भी अधिक झुंझलाया हुआ था। अभी मैंने टिकिया खाने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि श्री रवीदत्त आ धमके। वह सामने से दाँत निकाले चले आ रहे थे और नें टिकिया की प्लेट हाथ में लिए हुए था। इस कारण मैं तो भाग न सका और उन्होंने आकर मुझे कन्धों से पकड़ लिया और अच्छी तरह झंझोड़ते हुए बोले—“हैलो, हैलो।”

इसके पश्चात् आप ही आप हँसने लगे—“ही-ही-ही।”

अब भला यह हँसी किस कारण थी? मैंने कहा—“आप अच्छे तो हैं?” अर्थात् मेरा तात्पर्य यह था कि यदि भगवान तुम्हें गारत करना चाहता तो कर सकता था।

इन जान-पहचान वालों की एक मनोवैज्ञानिक विशेषता यह है कि ये जब भी मिलते हैं, बड़े प्रेमभाव से मिलते हैं और यह प्रकट करते

‘ कि यदि तुम उनके सगे भाई नहीं हो तो चचेरे भाई से किसी प्रकार कम नहीं हो । इतना हर्ष, इतनी हार्दिक प्रसन्नता और स्नेह दिखाते हैं कि तुम्हें विश्वास हो जाता है कि यदि यह कम्बख्त आज मर गया तो कम से कम आधी सम्पत्ति तुम्हारे नाम अवश्य लिख जाएगा ।



इसलिए मैंने रवीदत्त से कहा—“टिकिया खाइए !”

“नो, नो, थैक्यू” कहकर आप साथ वाली कुर्सी घसीटकर मेरे निकट बैठ गये और टिकिया उड़ानी शुरू कर दी । टिकिया खाते-खाते बहकने लगे—“यार, तुम से मिलकर कितना हर्ष हुआ है, कितनी प्रसन्नता हुई है । क्या बताऊँ कितने समय के बाद मिले हो ! अरे भाई, वो टिकिया और देना, गर्मागर्म ।”

यह पाजी मुझे ‘यार’ कहता है ! मुझे आत्मग्लानि का अनुभव

हुआ । मूर्ख, प्रोफेसरो का पिछलग्गू मुझे अपना यार कहता है । यद्यपि वास्तविकता केवल इतनी है कि वह बी० ए० में मेरे साथ पढ़ता था, न नमस्ते न बोलचाल । मैं केवल इसकी शक्ल से ही इसे जानता था वरना बी० ए० में तो मैंने इस जैसे क्षय-रोगियों से सम्बन्ध ही न रखा था । पर अब तो मेरा ही दोष था । न मैं सड़क पर बैठकर टिकिया खाता और न यह नौबत आती ।

“दो टिकियां और देना ।” रवीदत्त ने तीसरा प्रहार किया । और बोला—“यार क्या बताऊँ, तुमसे मिलकर कितनी खुशी हुई है । भला कितने वर्ष हुए होंगे तुमसे मिले हुए, तीन कि चार ?”

मैंने मन में कहा—“हे भगवान्” तेरी लीला तू ही जाने । तूने इसकी शक्ल या तो बी० ए० में दिखाई थी या फिर आज इस मनहूस शक्ल को मेरे सामने लाया है ।” फिर भी मैंने मुस्कराते हुए रवीदत्त से कहा—“शायद चार वर्ष बाद ।”

“हाँ, हाँ, ठीक याद आया, चार, पूरे चार ।” रवीदत्त ने मेरी बात का पुष्टिकरण किया और साथ ही मुझ पर चौथा प्रहार भी कर दिया, “देखो, चार टिकियां और देना, खूब गर्म हों ।”

+ + + +

यह तो एक साधारण-सी घटना है वरना जुकाम और जान-पहचान वाले लोग—यही तो वे बीमारियाँ हैं जिनका प्रामाणिक इलाज आज तक किसी वैद्य या डाक्टर ने मालूम नहीं किया । इस अवसर पर मुझे विक्रमसिंह याद आता है । कम्बख्त अहमद ने भूल से एक बार मेरा और उसका परिचय करा दिया था । अब उसका फल मुझे भोगना पड़ता है कि मेरी और विक्रमसिंह की भेंट किसी गली के मोड़ पर, किसी बाज़ार के नाके पर या किसी सिनेमा के टिकट घर पर हो जाती है । अभिवादन के पश्चात् सदा यही सम्वाद होता है—

“अस्सलाह, आप है ?”

“ओ हो, किधर जा रहे हैं ?”

“कभी-कभी मिलते तो रहा कीजिए ।”

“दर्शन तो होते रहते हैं आपके ।”

“ही-ही-ही !”

“हा-हा-हा !”

“अच्छा धन्यवाद !”

“धन्यवाद ।”

चले जाते हैं और मैं सोचता हूँ कि आखिर मनुष्य इतने मूर्ख क्यों है कि सिनेमा थियेटर देखते हैं ? यहां इस संसार के स्टेज पर हर समय कोई न कोई शैक्सपीयर, कालिदास और आगा अपना नाटक प्रस्तुत करते ही रहते हैं ।

कभी किसी सिनेमा के द्वार पर एक साहब से भेंट होती है—

“हैलो, हैलो ।”

“हैलो, हैलो ।”

“क्या आप लाहौर ही में हैं ? (मानो विश्वास नहीं आता) मैं समझा था (देवदास का सा एक्टिंग करके) कि आप लाहौर से बाहर चले गये हैं ?” अब कोई इनसे पूछे कि यह तुमने कैसे समझ लिया कि मैं लाहौर से बाहर चला गया था। “आप बी० ए० में पढ़ते हैं ?” आज से दो वर्ष पहले इसी सिनेमा के द्वार पर मिले थे और यिल्कुल यही बातें की थीं ।

मैं बड़ी कठिनाई से संयम रखकर उत्तर देता हूँ—“नहीं जी ! मैंने बी० ए० तो दो वर्ष हुए पास कर लिया था । आजकल मिंटो पार्क में गडेरियाँ बेचता हूँ ।”

“ओह—ठीक याद आया । क्षमा करना.....ओह.....अच्छा फिर भेंट होगी । मैं आजकल चगंड मुहल्ले में रहता हूँ । कभी पधारिये न, सफाचट लांडरी के निकट ।”

+ + + +

मेरी जान-पहचान के एक और भलेमानस हैं । उनकी और मेरी

जान-पहचान केवल दो वाक्यों तक सीमित है। उनसे भेंट यद्यपि बहुत संक्षिप्त होती है, परन्तु अत्यन्त शिष्टतापूर्वक। पहले तो वे दूर ही से मुस्कराना शुरू कर देते हैं, जिसके उत्तर में मुझे भी मुस्कराना पड़ता है। मैं यह बात आज तक नहीं समझ सका कि वे मुस्कराते क्यों हैं? निकट आने पर वे हाथ मिलाते हैं और फिर—

“कुशल तो है?”

“आपकी कृपा है।”

इसके पश्चात् कुछ क्षण फिर मुस्काते हैं और—“एफ० ए० में पढ़ते हैं न?”

“जी हां।”

मुस्कराते हैं और चले जाते हैं। वर्षों से भेंट हो रही है। कभी और कोई बात नहीं हुई, मुझे तो पागल मालूम पड़ते हैं।

कहां तक गिनाऊं! मेरे साथ के कमरे में एक बाबूजी रहते थे। मेरा परिचय केवल इतना था कि वह कभी मुझ से ब्लेड उधार ले लिया करते थे, और मैं उनसे पैन की स्याही मांग लिया करता था। इसके अतिरिक्त उनका एक निकट सम्बन्धी था, जो एफ० ए० में मेरे साथ पढ़ चुका था। वस, मेरी तो शामत आ गई। मैं जरा कमजोर दिल का आदमी हूँ। लड़ाई-भगड़ा पसन्द नहीं करता। पांच साल होटल की रोटियां खाकर अन्त में मेरे मस्तिष्क ने अहिंसा की नीति को अपना लिया है। अब मुझ में इतना साहस ही नहीं कि उनसे कह सकूँ—‘भाई साहिब आप क्यों मेरा मग़ज चाट रहे हैं, भगवान् के लिए कमरे से बाहर तशरीफ ले जाइये।’

उनकी और मेरी रुचि में कोई मेल नहीं। मैं सिनेमा पसन्द करता हूँ, वे थियेटर पर फ़िदा हैं। इसलिए बातचीत का विषय बस एक रह गया है—उनका वह सम्बन्धी जो कभी मेरे साथ रहता था। और जाने कैसे उन्हें विश्वास हो गया था कि मुझे इस विषय पर बातचीत करना बहुत प्रिय है। वस, उठते-बैठते उसी की चर्चा, उसी का उल्लेख। तंग

आकर मैं आत्महत्या करने वाला ही था कि भगवान को कुछ दया आई। एक दिन उन्हें एक तार मिला कि उनका वह सम्बन्धी और मेरा सहपाठी इस संसार से चल बसा।

सच मानिए, मैं बहुत प्रसन्न हुआ कि चलो मुक्ति मिली मुझे भी और मरने वाले को भी। कुछ दिन चैन के कटे, क्योंकि ये साहब मरने वाले के यहां शोक प्रकट करने गये थे। परन्तु लौटते ही फिर वही बक-बक, “अजी, वह आपको बहुत याद करता था, अपने सब मित्रों को याद करता था। बड़ा ही नेक लड़का था।”

क्या विडम्बना है कि लोग मरने वालों को भी नहीं बख्शते। उनके नाम पर क्या-क्या बातें घड़ी जाती हैं। इन साहब ने भी कोई कसर नहीं छोड़ी। जब वह मरा—

१. उसने अपने सब मित्रों को याद किया। (चाहे बेचारे को हिचकी लेने का भी अवसर न मिला हो और वह हृदय-गति बन्द हो जाने से चल बसा हो।)

(२) जी, मरने के बाद उसकी सूरत तनिक नहीं बिगड़ी। बस ऐसा लगता था कि अभी-अभी सोया है—आँखें तनिक-सी खुली हुई थीं।

(३) अजी, उसे अपने मरने का पता था। छः महीने पहिले ही से वह उदास रहने लगा था। न किसी के साथ हँसना, न बोलना, न खेलना—मानो उसे मौत सामने खड़ी दिखाई देती हो। ओफ़, अन्तिम बार जब वह मिला था ! पिछले साल की बात है, वह मुझे स्टेशन पर छोड़ने आया था, तो सहसा मुझ से पूछ बैठा—‘क्या बजा होगा?’ मैंने कहा—‘साढ़े आठ’ कहने लगा—‘साढ़े आठ, ओफ़ साढ़े आठ। गाड़ी अभी तक नहीं आई। मुझे इजाजत दो, मैं चलता हूँ। बहुत देर हो गई है।’ और यह कहकर वह चला गया। उस समय उसके चेहरे पर एक अजीब-सी उदासी थी। उस दिन मैं इसका मतलब न समझ सका था।”

मैंने तंग आकर कहा—“मगर इसका उसके मरने से क्या सम्बन्ध?”

“सम्बन्ध” उन्होंने विस्मित होकर कहा—“साहब सम्बन्ध यह है कि

इस घटना के ठीक एक साल बाद साढ़े ग्यारह बजे वह मर गया । तनिक विचार तो कीजिए कि पूरे एक साल बाद, उसी दिन और साढ़े आठ बजे के तीन घन्टे बाद । अब देखिए, उस दिन साढ़े आठ बजे के कुछ ही मिनट बाद गाड़ी आ गई और उसने मुझे साढ़े ग्यारह बजे लाहौर पहुँचा दिया—कितनी आश्चर्यजनक बात है—साढ़े ग्यारह बजे ।”

अब मेरी सहनशक्ति जवाब दे चुकी थी । उनकी इस बकवास को और अधिक सुनना मेरे लिए असह्य हो गया और मुझे कहना ही पड़ा—
“भगवान के लिए इस बकवास को बन्द करो । यदि अपनी सलामत चाहते हो तो आगे फिर कभी इस कमरे की ओर न आना ।”

इतने अनुभवों के पश्चात् मेरा तो अब यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि मनुष्य किसी से ‘जान-पहचान’ न रखे । केवल दो-चार मित्र बनाए और बहुत से दुश्मन ! जीने के लिए इससे अच्छा नुस्खा और कोई नहीं ।

“घूँघट में गोरी जले.....।”

हरियाणे का जाट दिल्ली की सड़क पर यह गीत गाता हुआ जा रहा था। मस्त, मदभरी आँखों में यौवन की प्यास और जोश लिये हुए। ‘घूँघट में गोरी जले’—मैं गीत का यह टुकड़ा सुनकर ठिठक गया। सोये हुए मन के अधियारे में यह पंक्ति विद्युत् की भाँति कौंध गई और मैंने देखा कि गोरी का अलौकिक सौन्दर्य घूँघट की रेशमी सलवटों में



दीपक की लौ की भाँति जल रहा है और हरियाणे के इस जाट की आँखों को चकाचौंध किये दे रहा है।

पतंगा अब सड़क पर बहुत दूर निकल गया था। उसकी आवाज मध्यम हो चुकी थी और नशा हल्का। मैं जहाँ खड़ा था अब वहाँ निकट से ही आवाज आई—कुछ पंजाबी मजदूर, जो खेमे बनाने वाले ठेकेदार के कारखाने से काम करके वापिस आ रहे थे, सड़क पर गाते जा रहे थे:—

“काली तित्तरी, काली तित्तरी कमांदों निकली,

ते उड़दी नूं बाज पै गया;

ते उड़दी नूं बाज पै गया।”

गन्ने के खेत से निकली हुई, काला लहंगा पहने हुए ! काला लहंगा और गोरी-गोरी बाहें। स्याही और सफेदी का सम्मिश्रण ! और फिर बाज की झपट ! परन्तु ये बाज भी तित्तरियों की घात में सड़क पर चपल गति से उड़ते चले गये।

जब मैं राजपुर रोड पर मुड़ा तो एक युवक धोबी पीठ पर मैले कपड़ों की गठरी उठाए मुझसे टकरा गया। वह एक गीत गाता हुआ बेसुध, मस्त चला आ रहा था—“प्रीति करो तुम प्रीति, ऐ सजनी ! प्रीत करो तुम प्रीत !” और उसके बाद यह टक्कर—अर्थात् प्रेम और एक क्लर्क की टक्कर ! क्लर्क ने पराजय स्वीकार की और सड़क के दूसरे छोर पर हो लिया। धोबी का लड़का गुनगुनाता हुआ आग बढ़ गया—‘प्रीत करो तुम प्रीत, ऐ सजनी...’

मैं सोचने लगा—इस सड़क पर प्रेम की इतनी बाढ़ क्यों आई हुई है। नंगी, आवारा सी सड़क है, न जाने किधर जा रही है, कहाँ समाप्त होती है ? दोनों ओर नीम के रूखे-रूखे पेड़ खड़े हैं। परन्तु जो भी इस सड़क पर से जा रहा है प्रेम के गीत अलापता जा रहा है। सड़क के एक ओर कब्रिस्तान है, परन्तु उसे देखकर भी किसी को बेराग्य नहीं होता, किसी में अध्यात्मवाद नहीं जागता। इस कब्रिस्तान में टूटी-फूटी कब्रें हैं, बेर की भाड़ियाँ हैं, भूरे फूलों वाले पौधे हैं जो अपने भूरे फूलों और काले काँटों का भाड़ चारों ओर फैलाये हुए हैं।

यह चींटियों के ढीले हैं, भौंड़ी आकांक्षों की छिपकलियाँ हैं और भींगूर हैं। परन्तु सड़क पर चलते हुए अचेत पागो इन धड़ियाँ की आवाज सुनकर भी नहीं चेतते और अपनी धन में भाते हुए चले जाते हैं—“प्रीत करो तुम प्रीत, ऐ सजनी...” पंजाबी जाट ने औरत के काले लहंगे की ओर देखा और हरियाणों के जाट ने धूँधट वाली गोरी को देखा और दोनों को तुरन्त प्रेम हो गया। यह क्या बात है ?

जान पड़ता है कि भारत देश को प्रेम का रोग है। इस सड़क की रंगों भारत के कोने-कोने में फैली हुई है। इसीलिये पिछली दो जन-गणनाओं में भारत (अविभाजित) की जन-संख्या दस करोड़ बढ़ गई। क्षेत्रफल वही है, सीमाएँ वही हैं, धरती वही है, आकाश वही, परन्तु जन-संख्या दस करोड़ बढ़ गई है। और फिर भी रेडियो हर घड़ी हर घर में यह सन्देश देता रहता है—प्रीत करो तुम प्रीत, ऐ सजनी...। धोबी के लड़के से रेडियो तक, भारत की हर चीज़—चाहे वह चेतन हो अथवा जड़ और चाहे मनुष्य हो अथवा पशु—प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है। ज्यों-ज्यों इसकी तीव्रता बढ़ती जाती है, भारत की जन-संख्या भी बढ़ती चली जाती है। और अन्त में वह दिन भी आएगा जब इस स्वर्गादपि गरीयसी पुण्य-भूमि भारत में प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिल सकेगा—न रोटी, न पानी, न कपड़ा, न घर। बस, चारों ओर प्रेम ही प्रेम होगा।

प्रकट और बाह्यरूप से तो हमारे देश में प्रेम को कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं है, और प्रायः इसे चोरी, हत्या और डाके की तरह घृणित समझा जाता है और उन्हीं की भाँति दण्डनीय भी। परन्तु वास्तविक बात यह है कि भारत में प्रेम के बिना किसी व्यक्ति का एक क्षण के लिये भी निर्वाह नहीं हो सकता। घरों में, बाज़ारों में, गली-कूचों में, खेतों में, कारखानों में, दफ्तरों में—सारांश यह कि इस देश के चप्पे-चप्पे पर प्रेम के चर्चे हैं।

हमारे देश में कवि-सम्मेलनों में बारह वर्ष के लड़के से लगाकर सत्तर

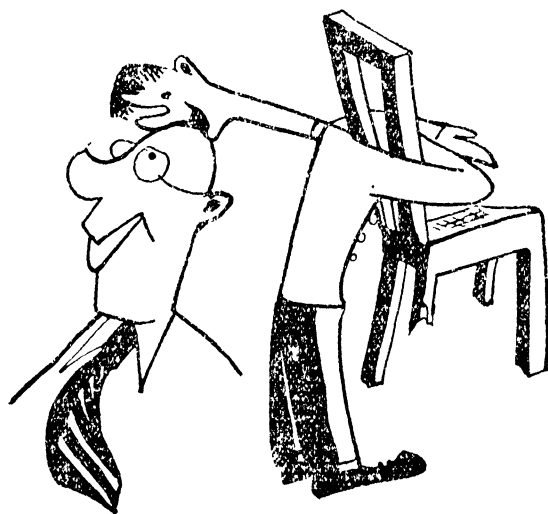
वर्ष के बढ़े तक भाग लेते हैं। उसही कविताओं का प्रत्येक पद और प्रत्येक चरण प्रेम और श्रृंगार-रस के किसी न किसी पहलू की विवेचना करता है। युवकों में तो खैर प्रेम की भावना एक नैसर्गिक, स्वतः-जन्य भावना है। “ऐ इश्क, कहीं ले चल, !” चांदनी चौक ले चल या चावड़ी ले चल, गन्दे नाले ले चल या सब्जीमंडी ले चल, परन्तु परमात्मा के लिये कहीं न कहीं ले चल ! वैसे इस प्रकार का प्रेम प्रेमी को प्रेयसी का घर दिखाने के स्थान पर बड़े घर के ही दर्शन कराता है।

यह तो भला हुई थोवन की मस्ती, परन्तु इस देश के तो बूढ़े भी इतने ही रँगोले हैं—वही प्रेम की विह्वलता, वही दर्द, वही रोना-पीटना, वही विरह की ज्वाला। आँखों में दम नहीं, मुँह में एक भी दाँत नहीं, हाथ काँपते हैं, पाँव लड़खड़ाते हैं, नदी-किनारे के पेड़ ! परन्तु प्रेम का राग अलापने में वे भी किसी से पीछे नहीं। और इस प्रेम के लिये बेचारे क्या कुछ नहीं करते ?—वालों में खिजाब, दाढ़ी में मेंहदी, हाथ में कविताओं की कोई पुस्तक—प्रेम का पूरा ठाठ जुटाया जाता है।

जो लोग यह कहते हैं कि हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या उसकी निर्धनता है, उसका जीवन-स्तर है, वे लोग झुक मारते हैं। न हमारे सामने रोटी का प्रश्न है, न कोई और। हम केवल प्रेम चाहते हैं—हर घड़ी, हर पल, केवल प्रेम, बस और कुछ नहीं। मनुष्य-जीवन का अर्थ निवाय प्रेम के और कुछ नहीं है। कलबों, बाजारों, गली-कूचों, घरों, दफ्तरों, कारखानों आदि के कोने-कोने में प्रेम समाया हुआ है, यह तो मैं पहले कह ही चुका हूँ; किन्तु, जब सवेरे उठकर समाचार-पत्र खोलता हूँ तो उसमें भी सबसे अधिक विज्ञापन विवाह-सम्बन्धी होते हैं—‘आवश्यकता है लड़के की, आवश्यकता है लड़की की...।’ इनके अतिरिक्त अगणित विज्ञापन होते हैं—प्रेम-शास्त्रों, कोक-शास्त्रों, छिपकर रात के समय अकेले में देखने योग्य चित्रों आदि के। ‘शक्ति’ के विज्ञापन, ‘ताचीन्ना—दो मिनट में तुम्हारी प्रेयसी तुम्हारे कदमों में’,

इस प्रकार के विज्ञापन केवल समाचार-पत्रों की ही शोभा नहीं बढ़ाते, वरन् जहाँ जाओ, वहीं इनकी भरमार है। दुकानों और मकानों की दीवारों पर, स्टेशनों पर, बिजली के खम्भों पर, किसी भी नगर, गाँव अथवा बस्ती का कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ प्रेम की कला से सम्बन्धित विज्ञापन दिखाई न देते हों। 'वशीकरण मन्त्र', 'पीर जी की करामात', आदि भारत देश की विशेष उपज हैं। जान पड़ता है कि यहाँ के लोगों को न द्रुक्तरों की आवश्यकता है, न खाद की उपज बढ़ाने के लिये नये-नये वैज्ञानिक औजारों और उपायों की। यदि उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता है तो वह केवल वशीकरण मन्त्रों और पीर जी की करामात—अथवा दूसरे शब्दों में केवल प्रेम—की है।

प्रेम का पहला नियम यह है कि किसी भी वस्तु से प्रेम किया जा सकता है। स्त्रियों को अपने पति, बच्चों और मायके से तो अथाह प्रेम होता ही है, साथ ही उन्हें अपने घर के आंगन में लटकी हुई पुरानी रस्सी और स्नान-घर में पड़े हुए टूटे-फूटे लोटे से भी गहन प्रेम होता



है। किसी भी अवस्था में वे इन्हें घर से बाहर फक देने के लिये तैयार नहीं होतीं। पुरुषों को अपनी पत्नियों से तो असीम प्रेम होता ही है, परन्तु, उन्हें उतना ही प्रेम बल्कि उससे भी अधिक प्रेम अपने दफ्तर की टूटी हुई मेज कुर्सी और अपने अफसर के गंजे सिर से होता है।

परन्तु भारत में प्रेम कोई नई चीज नहीं है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुराने समय में भी भारतीयों ने प्रेम करने के सिवाय और कोई महान् कार्य नहीं किया। हमारा इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है कि अमुक राजा अमुक रानी पर आसक्त हो गया और परिणाम यह हुआ कि सहस्रों योद्धा रणभूमि में काम आए। अमुक राजा के महल में इतनी रानियां थीं, अमुक बादशाह के रत्नवास में इतनी बेगमें थीं। महाभारत से लेकर मुहम्मद शाह रंगीले तक भारत के इतिहास के पन्ने उन गरीबों के लहू से लाल हुए पड़े हैं जिन्हें शासकों की प्रेम-लीला एवं प्रेम लिप्ता की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी।

हमें मुंदों से भी बड़ा गहरा प्रेम है। उनके लिये हम लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके भव्य मकबरे और समाधियां बनाते हैं। हम पुराने भवनों से भी गहन प्रेम है। यही नहीं, वरन् हमें पेड़ों तक से आध्यात्मिक प्रेम है। प्रत्येक गांव में एक-न-एक पेड़ ऐसा अवश्य होता है जिसकी पूजा की जाती है और इस पेड़ की शाखाओं और तने पर इतना कपड़ा लिपटा हुआ होता है कि उससे सारे गांव के लोगों का तन ढांपा जा सकता है। परन्तु, गांव वालों की त्याग-भावना देखिये कि स्वयं नंगे रहते हैं और अपने प्यारे पेड़ को कपड़े पहनाते हैं। प्रेम-भावना का यह ऐसा उदाहरण है जो आपको किसी अन्य देश में ढूंढ़े से भी नहीं मिलेगा।

इस महान् देश में जहां एक ओर प्रेम का साक्षात् रूप रौजा ताज-महल विद्यमान है वहां वह मक़बरा भी है जहां मुहम्मद तुग़लक ने अपने टूटे हुए प्यारे दांत को दफ़नाया था। ग़री नहीं, भारत के सपूतों को पत्थरों से, सांपों से, बन्दरों से, गंग-धड़ंग मुलफ़ा पीते हुए आधुनों से



और न जाने किस-किस अला-बला से प्रेम हाता है ।

प्रेम का एक नया मैदान पिछले कुछ वर्षों से हमारे लिये खुल गया है । अर्थात् सिनेमा-अभिनेत्रियां । जितना रुपया हम लोगों ने कुछ ही वर्षों में फिल्म-अभिनेत्रियों से प्रेम करने में व्यय कर डाला है उतने रुपये से सारे राजपूताने की धरती को सींचने के लिये नहरें खोदी जा सकती थीं, हवाई सेना के कई स्क्वाड्रन तैयार हो सकते थे, और अपेक्षित की रोक-थाम के लिये बीस बड़े-बड़े हस्पताल खोले जा सकते थे । परन्तु प्रेम हमें इन बातों के लिये अवकाश ही कब देता है ?

यह प्रेम हमें जागृति और जीवन की ओर नहीं, वरन् दासता, दुःख, और मृत्यु की ओर ले जा रहा है। इस बीमारी की चिकित्सा हो जानी चाहिये—चाहे वह जेलखाने के द्वारा हो अथवा बिजली, पानी, भाप के द्वारा। अन्यथा इस रोगी के वचने की कोई आशा नहीं है।

“घूँघट में गोरी जले……।”

परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि गोरी घूँघट को जला दे ? यह प्रज्वलित दीपक फानूस की चारदीवारी से बाहर निकल आए और भारत के इस सिरे से उस सिरे तक आग लगा दे—वह आग, जिसमें हमारी मानसिक, आर्थिक तथा अन्य सब प्रकार की दासता, विवशता, दुःख, संकट, बीमारियाँ, निर्धनता आदि जलकर भस्म हो जाएं।

हवाई महल

१५.

‘हवाई महल’, ‘ख्याली पुलाव’ की कोटि का शब्द है । अन्तर केवल इतना है कि ‘ख्याली पुलाव’ हिन्दुस्तान की ‘भूख’ की ओर सूक्ष्म-सा इशारा करता है और इसका क्षेत्र केवल ‘पेट’ तक सीमित है । परन्तु ‘हवाई महल’ एक विस्तृत और व्यापक शब्द है और इसमें ख्याली पुलाव ही नहीं बल्कि कई एक और आकर्षक चीजें शामिल हैं जिनके अस्तित्व से हिन्दुस्तानी अभी तक अपरिचित हैं । एक और बात ध्यान देने योग्य है । ‘ख्याली पुलाव’ में हवाई महल नहीं समा सकते, लेकिन हवाई महल में बैठकर ‘ख्याली पुलाव’ मजे से पकाए जा सकते हैं । यदि सोचा जाए तो इस लिहाज से सारा हिन्दुस्तान एक हवाई महल मालूम होता है ।

क्या आपने कभी हवाई महल बनाए हैं ? मैं बचपन की बात नहीं करता, जब कि सारी जिन्दगी ही एक हवाई महल मालूम होती थी । माँ की गोद में जा बैठे और ऊँघते-ऊँघते एक दम चिड़िया बनकर ‘फुर’ से बाग में सेब के सफ़ेद-सफ़ेद फूलों पर जा बैठे और वहाँ से चोंच निकालकर भयभीत हो कहने लगे—“देखो देखो, अम्मा मैं कितनी ऊँची जगह पर जा बैठा हूँ । और अम्मा हँसकर पड़ोसिन से कहती है—“कितना भोला है—मेरी गोद में बैठा है और सपने में समझता होगा कि कितने ऊँचे पर जा बैठा है—नटखट कहीं का ।” और फिर प्यार से थपक कर—‘सोजा मेरे नन्हें, तुझे चारपाई पर सुला दूँ ।’

और तुम्हारा हवाई महल धम से गिर जाता है ।

या रंगते-रंगते आँगन में आगए, दीवार के साथ तीन-चार ईंटें लगाईं—‘एक तो है काला कौवा ! वह, जो मुँडेर पर बैठकर अपनी भयानक आवाज में चिल्लाया करता है और तुम्हें जब कभी अकेला पाता है, नन्हें-मुन्हें हाथों से बिस्कुट झपट कर ले जाता है। दूसरी ईंट निसन्देह ही तुम्हारी बड़ी बहन है जो हर समय तुम्हें चूमने पर उतारू रहती है और तुम्हें मीठी भी लगती है और खट्टी भी—मीठी उस समय जब खेलते-खिलाते, हँसते-हँसाते तुम्हें एक साथ गले से लगा लेती है और तुम्हें अजीब-अजीब प्यारे-प्यारे नामों से बुलाती है; और खट्टी उस समय जब नहलाने के लिए वह तुम्हें पानी से भरे टब में डाल देती है। निश्चय ही तुम्हें पानी पसन्द नहीं। आखिर तुम ज़मीन पर चलने वाले जानवर हो न कि पानी की मछली। और फिर वह साबुन का नमकीन भाग जो नाक के कोमल नथनों में, आँख के पपों के भीतर पहुँच कर मिचॅ सी लगा देता है। फिर किस निर्दयता से वह एक खुरदरे से तौलिये से तुम्हारे छोटे से शरीर को रगड़ती है, यहाँ तक कि वह लाल हो जाता है। और इस क्रिया के दौरान में वह बराबर गुनगुनाए जाती है। और फिर कोई थोड़ा-सा खुशबूदार तेल लेकर तुम्हारे छोटे से सिर पर इस जोर से मालिश करती है कि तुम्हें लगता है तुम्हारा कोमल-सा सिर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। तुम यह भी सह जाते हो पर वह इस पर भी बस नहीं करती, बल्कि लकड़ी की एक छेपटी-सी लेकर बार-बार तुम्हारे घुंघराले बालों में फेरती है यहाँ तक कि पीड़ा के मारे तुम बिलबिला उठते हो; और हैरान होते हो कि वह मीठी बहन कहाँ गई और यह कौन है जिसे तुम्हें खलाने में आनन्द आता है।

तीसरी ईंट तुम्हारा सबसे बड़ा भाई है। वह तुम्हें कभी-कभी दिखाई देता है। अक्सर उसके हाथ में एक मोटी-सी किताब होती है और आँखों पर एक चमकती हुई ऐनक। वह तुम्हें उस समय प्यार करता है जब तुम बिल्कुल अकेले होते हो। पहले वह इधर-उधर देख नेता है कि आस-पाम कोई नहीं है; और तुम अभी मन-ही-मन में हैरान

हो रहे होते हो कि यह मेरा इतना ऊँचा भाई क्या कर रहा है और इसकी आँखों पर वह दो गोल-गोल सी चीज़ें क्या चमक रही हैं; कि वह तुम्हें सहसा धरती से इतना ऊँचा उठा लेता है कि तुम्हें लगता है तुम आकाश से जा मिले। वह तुम्हें हवा में उछाल देता है और तुम डर जाते हो। फिर वह बाहें फैलाकर तुम्हें लपककर गोद में ले लेता है और तुम खुशी में खिलखिलाने लगते हो। तुम्हें देखकर वह स्वयं भी खिलखिलाने लगता है। वह तुम्हें गद्गुदाता है और तुम जोर-जोर से हँसना शुरू कर देते हो, जिस पर वह तुम से भी ज्यादा जोर-जोर से हँसने लगता है। हँसी का शोर सुनकर घर के लोग इकट्ठे हो जाते हैं, और सब मिलकर बड़े भाई पर हँसते हैं और वह लज्जित-सा होकर तुम्हें भट ज़मीन पर उतार देता है और अपने पढ़ने के कमरे में चला जाता है।

अब तुम इन ईंटों से दिन भर खेलते हो। तुम बड़े भाई की ऐनक उतार लेते हो और उसे एक गाय बनाकर बहन की चोटी से बाँध देते हो; तुम बड़ी बहन को लाबुन के भाग में भरे टब में डाल देते हो; वह चिल्लाती है, तुम खूश होने हो और खिलखिलाकर हँस पड़ते हो। आँगन में एक ओर कोने में बेंटी हुई अम्मा तुम्हें देख-देख मुस्कराती है और फिर तकली पर सूत चढ़ाकर उसे धुमाती है। इतने में बा पत्नी ईंट, जिसे तुम कौवा समझते हो, तुम्हारे हाथ से बिस्कुट छीन ले जाती है और तुम क्रोध में आकर उसे दीवार से हटाकर एक ओर फेंक देते हो और मुँह बिसूरने लग जाते हो। और अम्मा कहती है "अभी हँसते थे, अभी ऊँ-ऊँ करते हो।"

नहीं नहीं, मैं बचपन के हवाई महलों की बात नहीं करता। मैं तुमसे लड़कपन और जवानी और बुढ़ापे के हवाई महलों की बात पूछता हूँ। बचपन की जिन्दगी तो विस्मय और हैरानी का एक अटूट सिलसिला थी। पिता जी के हुक्के से लेकर कुनीन की पुड़िया तक, हर चीज़ सुन्दर दिखाई पड़ती थी। तुम एक मिट्टी की गुड़िया में जान डाल

बैते थे; एक लकड़ी के घोड़ पर सवार होकर सारी दुनिया की सैर कर आते थे; एक कागज़ की नाव में बैठकर सात समुद्र पार चले जाते थे। परन्तु क्या लड़कपन में तुम, बचपन के इस प्रिय खेल को भूल गये थे? सच कहना तुमने अपनी चंचल कल्पना-शक्ति से कितनी बार स्कूल की इमारत को आग लगाई है। उसके शीशों को आकाश में उठते देखा है? कितनी बार उस मोटे ठिगने मास्टर को, जो हिसाब पढ़ाते-पढ़ाते तुम्हारे कानों के कोमल लोभों को निर्दयतापूर्वक मसलने लगता है, एक ऊँचे खजूर के पेड़ पर इस तरह उलटा लटकाया है कि संसार की कोई शक्ति उसे नीचे उतारने में सफल न हो सकी; और फिर स्कूल के सब मास्टर—हेड-मास्टर समेत (और यहाँ तुम मुस्कराते हो)—तुम्हारे पांव पड़ते हैं, और तुम एकदम उछलकर उस ऊँचे खजूर की छोटी पर पहुँच जाते हो और



उस मास्टर को पलक झपकते ही नीचे उतार लाते हो। और फिर वह तुमसे कभी कोई सवाल नहीं पूछता।

यकायक तुम्हें चेतना हो जाती है, और मालूम होता है कि तुम उसी मोटे ढिगने हिसाब पढ़ाने वाले मास्टर के सामने बेंच पर बैठे हो; उसने तुमसे शायद कोई सवाल पूछा है परन्तु तुम उसका जवाब देने में असमर्थ हो। और जवाब दे भी किस तरह सकते हो जबकि तुम एक सुन्दर हवाई महल बनाने में संलग्न थे, जिसमें तुमने उस मास्टर को एक खजूर के पेड़ पर उलटा लटका दिया था।

तुम जवाब नहीं दे पाते।

वह फिर तुम्हारे कान को अपनी उँगलियों में लेकर मसलने लगता है।

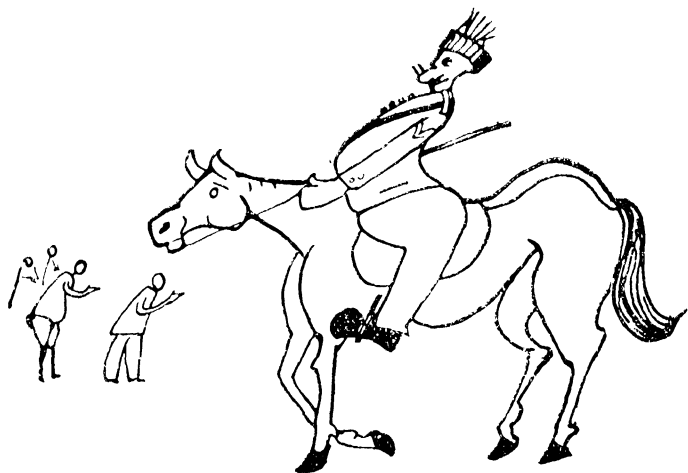
या फिर खेल के मैदान में खेलने-खेलते तुम्हें यकायक अनुभव होता है कि तुम स्कूल के सबसे अच्छे खिलाड़ी बन गये हो। तुम हाकी खेल



रहे हो और गोल पर गोल कर रहे हो। चारों ओर शामियाने लगे हैं और लोग तुम्हें देख-देखकर तालियाँ बजा रहे हैं। अब इन्टर्वल हुआ है और तुम्हें चाय और केक, सन्तरे और सेब दिए जा रहे हैं। तुम्हारा हेडमास्टर तुम्हारी पीठ ठोक-ठोककर शाबाशी दे रहा है। और यका-यक सीटी बजती है; और अब के तुम क्रिकेट का 'बैट' लिए जा रहे हो और 'विकेट' पर पहुँचकर जोर-जोर से 'हिट' लगा रहे हो। वह मारा—गेंद आसमान में चढ़ती हुई मैदान को पार कर जाती है और लकड़ी के उस बड़े से बड़े तख्ते पर, जो मैदान के बाहर लगा है, तुम्हारे 'रनों' में छः की वृद्धि एक साथ हो जाती है और तुम्हारे मित्र हैरान रह जाते हैं, 'अरे एक हिट में छः ! ग़ज़ब कर रहा है। छिपा हस्तम निकला यह तो।' और तुम्हारे होठों पर मुस्कराहट छा जाती है, और तुम इसी तरह हिट पर हिट लगाते रहते हो, यहाँ तक कि टीम मैदान छोड़कर भाग खड़ी होती है और तुम लड़कों के कंधों पर सवार होकर.....।'एँ यह क्या ! यह गेंद किधर गई ? यह शोर कंसा है ? यह कप्तान मुझ पर क्यों बरस रहा है ?' और अब तुम्हें पता चलता है कि तुम गोल पर खड़े-खड़े कल्पना के सुनहरे संसार में खेल रहे थे और गेंद तुम्हारी टाँगों में से होकर गोल को पार कर गई थी। "क्या तुम सो रहे थे ?"—कप्तान तुमसे क्रोध में आकर पूछता है। तुम सिर झुका लेते हो। तुम्हारा हवाई महल गिर कर ढेर हो जाता है।

या फिर इस तरह होता है कि तुम्हारा इम्तहान हो चुका है और नतीजा निकलने वाला है और तुम अपनी बैठक में बैठे हो और विश्वास कर लेते हो कि तुम हर विषय में प्रथम हो; हर विषय ही में नहीं, बल्कि क्लास भर में प्रथम हो। तुम आठवीं से नवीं, नवीं से दसवीं, दसवीं से एफ० ए० और फिर बी० ए० में पहुँच जाते हो, और बराबर वजीफा पाते रहते हो। इसके बाद आई० सी० एस० बन जाते हो, या अपने शहर के ऐस० पी०—वर्दी पहने हुए, घोड़े पर सवार निकल रहे हो और लोग झुक-झुककर सलाम कर रहे हैं। घर पहुँचते हो तो बंड

बजना है, पिता हर्ष से गले लगा लेते हैं और वह छोटी-छोटी आँखों वाला लड़का जो क्लास में प्रथम रहता है, तुम्हें ईर्ष्या भरी दृष्टि से देख रहा है।



परन्तु दूसरे दिन जब नतीजा निकलता है तो तुम्हारी क्लास के हर लड़के को पता चल जाता है कि तुम केवल अपने पिता के रसूल और असर से पास हुए हो।

×

×

×

आह, मैं तुमसे जवानी के हवाई महलों का हाल कैसे पूछूँ ? वे महल कितने सुन्दर होते हैं—सीप की मोतियों की भाँति। कितने कोमल होते हैं—पानी के बुलबुलों के समान, कितने प्यारे होते हैं—प्रेमिका के नयनों की नाईं। उनकी पैंगें तुम्हें आकाश के बुजों में पहुँचा देती हैं; परन्तु दूसरे ही क्षण धरती की धूल में ला पटकती हैं। वे मन में सोई हुई रागिनियों को जगा देते हैं। भावनाओं के रुके हुए खेतों को मचलती हुई धारा के रूप में प्रवाहित कर देते हैं; और विकल, विकम्पित और तृपित भावनाओं को बिजलियाँ बना देते हैं।

तुम्हें लगता है एक भरे जंगल में अपनी मन्त्रिष्ठ प्रेमिका को हाथों पर उठाए जा रहे हो । हर वन पर एक कांटा तुम्हारे नृभ जाता है, पर तुम हो कि परवाह नहीं करते । सामन एक आग का दरिया है । तुम उसमें से भी गुजर जाते हो । तुम्हारे बाल जल गए हैं, शरीर पर छाले उभर आए हैं, पर तुम हो कि अपनी प्रेमिका को अपनी छाती से लगाए आगे बढ़े जा रहे हो और आखिर उसे बचा लेते हो । अब शीतल समीर बह रही है, फूलों की एक वाटिका है । तुमने फूलों की सेज पर अपनी प्रेमिका को सुला दिया है । तुम थकान से चूर हो गये हो और उसकी सेज से लगकर धरती पर बैठ जाते हो; परन्तु उसी समय एक सर्प आकर तुम्हें डस लेता है । तुम मर जाते हो; परन्तु मरने से पहले अपनी प्रेमिका को होश में आता देख लेते हो ।

जवानी के हवाई महल कितने अजीब होते हैं । बचपन और लड़कपन के हवाई महलों से कितने भिन्न । कई पुराने हवाई महल थे जो बचपन और लड़कपन के सुनहरे काल की यादगार थे; परन्तु समय की प्रतिकूलता के कारण जवानी में आकर नष्ट हो गए । वह बचपन का साथी, गिल्ली डंडा खेलने वाला साथी, जिसके साथ बैठकर भविष्य के हवाई महल बनाया करते थे, अब कहाँ हैं ? बचपन से लड़कपन तक वह साथ देता आया; अब यकायक जवानी में आकर वह इस संसार से रुठकर चला गया और सारे महलों को क्यों गिरा गया ? वह अल्लहड़ नीली, जिससे बचपन में बड़े चाव से झूठ-मूठ का व्याह रचाया था, क्यों पौवनकाल के मतवालेपन में एक बिल्कुल अनजान, अपरिचित आदमी की व्याहता बनकर चली गई और तुम्हारे कलेजे में एक नासूर छोड़ गई । हाँ, जवानी में आदमी बहुत से पुराने हवाई महलों को टूटता देखता है और उनके टूटने के साथ-साथ उसके बचपन का भोलापन और लड़कपन की चंचलता और नटखटता भी विदा हो जाते हैं ।

परन्तु जहाँ तुमने जवानी में कितने ही हवाई महलों को अपने सजल नेत्रों से गिरते देखा है, वहाँ तुमने बहुत से नए-नए हवाई महलों का

निर्माण भी किया है। तुमने अपनी श्यामल प्रेमिका को चमेली के फूलों से सुन्दर बना दिया है। अपनी पिछड़ी हुई जाति को यकायक संसार की सब से उन्नत जातियों की कोटि में ला बिठाया है। अपने निर्धन देश के झण्डे को इतना ऊँचा उठाया है कि विश्व की समस्त विस्तृतता उसकी छाया तले आ गई। अपने टूटे-फूटे भोंपड़े की जगह एक जग-मगाता हुआ हीरे, लाल और जवाहरात का महल बनाया है। तुमने संयम द्वारा अपने चरित्र को इतना ऊँचा उठाया है कि मानव जाति ने एक मत होकर तुम्हें अपना नेता स्वीकार किया। तुम संसार के सब से बड़े कवि, साहित्यिक, कहानीकार, राजनीतिज्ञ, सैनिक, दार्शनिक और सुधारक कहलाए और अमर ख्याति का मुकुट तुम्हारे मस्तक पर धरा गया।



लेकिन इन सब बातों के होते हुए जब तुम्हारी आँख खुली तो तुम एक छोटे से दफ्तर में तुच्छ से क्लर्क थे। तुम्हारा वेतन भी तुच्छ था। तुम्हारे माता-पिता स्वर्ग सिधार गए थे; और तुम्हारे पल्ले एक चिड़चिड़ी और बेहद वफ़ादार बीबी बाँध गए थे। प्रेम के स्रोते सूख गए, फूस के भोंपड़े भी राख हो गए और तुम और तुम्हारा देश दोनों, दिनोदिन और अधिक निर्धन और गरीब होते गए।

परन्तु यह सब कुछ होने के बाद भी हवाई महल बनते रहे। जवानी

के बाद बुढ़ापा आया। अब पिछले महल सब ढह चुके थे। अपने लिए कुछ नहीं रहा। अब दूसरों की ओर ध्यान दिया। बूढ़े बाप ने महल बनाए अपने जवान बेटे के लिए; बूढ़ी माँ ने अपनी कल्पना के विकम्पित

संसार में अपनी बेटो के दुल्हे को देखा—उसके घोड़े की रकाबें सोने की थीं और बाग में मोती गुंधे हुए थे; आकाश से पुष्पवर्षा हो रही थी; अप्सराएँ नाच रही थीं और उसके चांद से जंवाई ने झुककर उसके पैर छुए और पद-रज ली ।

पोते ने बड़े होकर अपने दादा के नाम पर एक हस्पताल बनवाया है, जिसमें दुनिया भर के गठिया के मरीजों का इलाज होता है (क्योंकि दादा को स्वयं गठिया का मर्ज था और वह डाक्टर को फ्रीस देते तंग आ चुका था ।)

उस परमपिता परमेश्वर ने सत्तर साल से अधिक उम्र के बूढ़ों के सब पाप क्षमा कर दिए हैं । उनमें बूढ़े दादा भी शामिल हैं । वह खुशी से नाचना चाहते हैं, पर गठिया के कारण नाच नहीं सकते । वह गाना चाहते हैं, पर कंठ रुंध गया है । सुनना चाहते हैं, परन्तु समस्त विश्व पर एक निस्तब्धता-सी छा जाती है । फिर चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा या रोशनी ही रोशनी या पानी ही पानी—फिर उन्हें लगता है वे सिमट रहे हैं, सिकुड़ रहे हैं, और एक अणुमात्र रह गए हैं—अंधेरे का नन्हा-सा बिन्दु, प्रकाश की छरहरी-सी किरण और पानी की सूक्ष्म-सी लहर ।

इसी भाँति जीवन बीत जाता है—हवाई महल बनाते-बनाते ।

कहावत प्रसिद्ध है कि गाना और रोना किसे नहीं आता । कहने को यह सच है परन्तु जहाँ तक रोने का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ हम बड़े फिसड्डी सिद्ध हुए हैं । 'हम' से मेरा तात्पर्य सारे मानव समाज से है । कभी आपने इस बात पर ध्यान दिया कि जैसे-जैसे हम उम्र में बड़े होते चले जाते हैं, गाना तो खैर कभी-कभी सुन लेते हैं, और यदि कोई पास न हो तो गा भी लेते हैं, (जैसे नहाने के कमरे में या सुनसान जंगल में चलते हुए) परन्तु रोना, जो हमारे बचपन का सर्वप्रिय मनोरंजन था, अब हम से छूटता जा रहा है । बड़े होकर उसे लगभग भुला दिया जाता है । अभी कल ही मेरे एक मित्र बता रहे थे कि अन्तिम बार जब वे रोए थे, उस अवसर को दो वर्ष का समय बीत चुका है । वे बोले— "उस दिन मेरे एक घनिष्ठ मित्र की मृत्यु हुई थी ।" फिर मेरी ओर देख कर और एक आह भरकर वे कहने लगे— "आज कल तो न किसी प्यारे मित्र की मौत होती है, न कोई निकट सम्बन्धी मरता है कि चार आँसू बहा कर जी ठंडा कर लिया जाए । कभी-कभी ऐसे ही रोने को इतना जी करता है कि.....पर फिर सोचता हूँ कि लोग देखकर क्या कहेंगे ।"

रोना क्यों इतना बुरा काम समझा जाता है ? इसका कारण क्या है कि हर शरीर आदमी इसे तिरस्कार की दृष्टि से देखता है और कायरता की निशानी समझता है ? रोना तो एक प्राकृतिक क्रिया है, बल्कि सब से पहली और बहुत सी हालतों में, सबसे आखरी क्रिया । गाना निस्सन्देह एक अच्छी चीज है । परन्तु रोना उससे हजार गुना



अच्छी चीज है। बचपन में हम गाते कम हैं और रोते अधिक हैं। बचपन में जब हम रोते थे तो बहुधा बार-बार पुचकारे जाने पर भी चुप न होते थे। वे कहते थे, 'रोओ, खूब रोओ; रोना बच्चों के लिए अच्छा होता है।' परन्तु अब अजीब हालत है। यदि भावनाओं से प्रभावित होकर किसी समुदाय की आँखें भर आएँ, तो लोग उसे कायर और कम हिम्मत कह देते हैं। यदि किसी बेचारे की आँखों से दो-चार

आँसू टपक पड़ें या एक आध हल्की सी दीप निकल जाए तो लोग उसे नपुंसक कहने से नहीं चूकते। आखिर बात क्या है? एक चीज जो बच्चों के लिए लाभदायक है, उन आदमियों के लिए जो कभी बच्चे ही थे, किसप्रकार हानिकारक हो सकती है।

वैद्य लोगों का कथन है कि रोना बच्चों के लिए बड़ा लाभकारी है, क्योंकि इससे छाती खुलती है, फेफड़े मजबूत होते हैं, आँसुओं के बहने से आँखों की पुतलियाँ धुलकर साफ़ होती हैं, नाक के बहने से साँस का आना-जाना नियमित हो जाता है; स्नायु शक्ति प्राप्त करते हैं। कहने का उद्देश्य यह है कि रोना, कुशती करने के बाद, दूसरी सर्वोत्तम कसरत है। फिर इससे केवल बच्चे ही लाभ क्यों उठाएं? क्या हमें चौड़ी छातियों और मजबूत फेफड़ों की आवश्यकता नहीं है? मेरे विचार में यदि बचपन में इन चीजों की आवश्यकता थी, तो जवानी या बुढ़ापे में तो इनकी आवश्यकता बहुत अधिक होनी चाहिए। कदाचित् दिन-रात रोते रहने के कारण ही बच्चों को तपेदिक नहीं होती। यदि हम लोग भी दिन में तीन या चार घण्टे रो लिया करें, तो जहाँ फेफड़े मजबूत हों, वहाँ न दमा हो और न खाँसी। आँखों का तौर भी बढ़ जाए। भला कितने बच्चे चश्मा लगाते हैं और कौन-सा बूढ़ा या जवान

है जो आजकल चश्मे की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता ? लोग अपना स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए सिद्ध मकरध्वज, च्यवनप्राश, गोल्डन पिल्ल और शरबत फौलाद का सेवन करते हैं। परन्तु यदि वे इन बहु-मूल्य ओषधियों के स्थान पर प्रकृति के अमूल्य सिद्धान्त पर अमल करें और दिन में केवल एक आध घन्टा जी भर कर रो लिया करें, तो जहाँ शरीर नीरोग रहे, वहाँ मन में शान्ति का वास रहे और उस अशांति से मुक्ति मिल जाए जो इस बीसवीं शताब्दी में प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में घर कर गई है।



यह तो आपने देख लिया कि रोना स्वास्थ्य के लिए कितना लाभदायक है। रोना शरीर का भोजन है, न केवल शरीर का बल्कि आत्मा का। ऐसी कल्याणकारी वस्तु को बड़े पैमाने पर प्रचलित करने के लिए विश्वव्यापी प्रचार की आवश्यकता है। इसके लिए स्थान-स्थान पर साहित्यिक सभाओं की भांति, रone वालों की सभाएं स्थापित की जाएं। स्कूल और कालिजों में रोना 'अनिवार्य विषय' घोषित कर दिया जाए।

ऐसी फिल्में दिखाई जाएं जिनमें बड़े-बड़े आदमी रो रहे हों, जैसे हिटलर, मिसोलिनी, चर्चिल, चांगकाई शेका, बड़े-बड़े आदमियों को इस प्रकार दहाड़ें मार-मार कर रोते देखने से जनता पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ेगा और वे भी रोने लग जाएंगे। तनिक कल्पना कीजिए कि एक बड़ा-सा सिनेमा हाल है, जहाँ हजारों व्यक्ति बैठे हुए जोर-जोर से रो रहे हैं। कितना सुन्दर दृश्य है। क्या यह आपकी कलात्मक भावनाओं को प्रेरित नहीं करता ? या फिर हाकी, फुटबाल क्रिकेट और कुश्ती की भांति, रोना भी कसरत के रूप में सिखाया जाए। हर शाम शहरों और देहातों



में लाखों बड़े आदमी मैदानों में जमा किए जाएँ, जो दहाड़ें मार-मार कर रोएं और स्वास्थ्य-लाभ करें। अच्छे रोगेवालों के रिकार्ड भरे जाएँ बल्कि गानों वालों की भाँति उनको भी पदवियाँ दी जाएँ, जैसे 'रुदन शास्त्री', 'रोनाचार्य', 'रोने की रानी' आदि-आदि। इस प्रोग्राम को जनता में फैलाने के लिए अनेक उपाय बरते जा सकते हैं। नमूने के तौर पर यहाँ दो-एक उपाय बताए जाते हैं। पूरे उपाय जानने के लिए डेढ़ रुपये के टिकट भेजकर लेखक से पत्र-व्यवहार करें।

रोना कई प्रकार का होता है। बच्चों का रोग तो आप देख चुके हैं। परन्तु कुछ बच्चे बड़े वीर और साहसी होते हैं। वे बहुधा घंटों क्या, कई-कई दिनों तक रोते रहते हैं। वे खाना भी खाते हैं, खेलते भी हैं पर बीच-बीच में हिचकियाँ ले-ले कर रोने के क्रम को जारी रखते हैं। मैं ऐसे बच्चों को देखकर बहुत प्रसन्न होता हूँ। सोचता हूँ बड़े होकर ये क्या न कर सकेंगे? यूँ भी तो यह अपने में कोई कम बड़ा काम नहीं है। सच तो यह है कि मैं तो इसे इतना ही महत्व देता हूँ जितना कि वाटर लू की लड़ाई, फ्रांस की क्रांति और सिकन्दर के आक्रमण को दिया जा सकता है।

लड़कपन का रोग ऐसा है, जैसे सावन की वर्षा। ज़रा मास्टर ने कान पकड़ा और आँसुओं की झड़ी लगा दी। इधर मास्टर ने तनिक

पुचकारा, उधर मुस्कान का सूर्य बादलों को चीरकर निकल आया। पल में वर्षा, पल में धूप। परन्तु एक रोने ही का क्या कहना; लड़कपन में हर काम ही ऐसा होता है। परन्तु जवानी से तो कहीं अच्छा है। जवानी में लोग एक तो रोते ही नहीं, यदि रोते हैं तो बहुत कम और उस जगह जहाँ न कोई देख पाए और न सुन पाए; मानो कोई पाप कर रहे हों।

बुढ़ापे में भी लोग रोते हैं, परन्तु इस तरह कि रोने पर हँसी आती है। भला यह भी कोई रोना है कि 'हू-हू' करके, होठों पर भाग लाकर, आँसुओं से दाढ़ी भिगो डाली। यह रोना नहीं, रोने की हँसी उड़ाना है। वास्तव में किसी ने ठीक ही कहा है कि बुढ़ापे में अक्ल ठिकाने नहीं रहती। और वैसे भी इसमें बूढ़ों का क्या दोष। वे तो रोने की कला से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। यदि उन्होंने रोने की कला या कसरत के रूप में सीखा होता तो इस भौंकेपन का परिचय क्यों देते।

रोना वास्तव में एक कला है, एक कसरत है। इसको बच्चों और स्त्रियों ने खूब समझा और अपनाया है। मैंने वे बच्चे देखे हैं जो इस तरह सिसकियाँ भर-भर कर रोते हैं कि आदमी का कलेजा पिघल जाता है; मन में प्यार उमड़ आता है और उसकी बाहें उन्हें उठाने के लिए आगे बढ़ जाती हैं। और स्त्रियाँ.....? रोने की कला को यदि किसी ने उसके सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत किया है, तो वह स्त्री है। स्त्री के रोने ने राष्ट्रों और जातियों के इतिहास की धाराएं बदल दी हैं। एक किलो-पैटरा, एक हेलन, एक मिसेज सिम्पसन—आँसुओं से भरी इन आँखों ने इतिहास को जन्म दिया है। संसार का इतिहास आज सर्वथा भिन्न होता यदि उसके हर पन्ने पर किसी स्त्री के दो-चार आँसू न टपके होते। वैसे भी स्त्री के आँसुओं के कारण करोड़ों घरों में हर सातवें दिन एक आर्थिक क्रांति आ जाती है। और इसका कारण? इसका कारण केवल यह है कि अभाग पुरुष रोना नहीं जानते और स्त्रियाँ आँसू बहाकर उन्हें सदा के लिए अपना दास बना लेती हैं। समय आ गया है कि संसार

के पुरुष उठें और अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करें। अब समय आ गया है कि हम उस माया के बादल को छिन्न-भिन्न कर दें जिसने सत्य के सूर्य को अब तक हम से छिपा रखा है। उठो, स्वतन्त्रता के दीवानो, उठो। याद रखो कि हमारी स्वतन्त्रता का रहस्य रोने में छिपा है— खूब रोओ, जी भर कर रोओ, दिन में बार-बार रोओ, यदि स्त्री के दो दो आंसू संसार में क्रांति ला सकते हैं तो पुरुषों के आंसू क्या न कर सकेंगे ?

इसे मेरी रुचि का दोष कहिए या असाधारण व्यवहार की प्रवृत्ति, परन्तु यह एक वास्तविकता है कि बदसूरती को मैं खूबसूरती से अच्छा समझता हूँ। खूबसूरत चीजों को देखकर सहसा मन में यह विचार आता है कि सौन्दर्य तो नाशवान् है, आकाश की लालिमा की भाँति शीघ्र लुप्त हो जाने वाला, इन्द्र धनुष की भाँति क्षण भर में विलीन हो जाने वाला। परन्तु वह चीज तो सदा बनी रहती है, जिस पर हमारी इन्द्रियाँ अपनी तृप्ति के लिए सदैव निर्भर रह सकती हैं, जिसके बारे में कोई निश्चित मत निर्धारित किया जा सकता है, वह केवल एक चीज है, और वह है बदसूरती। इस संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे उसका प्रारम्भिक रूप कितना ही उज्ज्वल और मोहक क्यों न हो, अपने अन्त को पहुँचकर अनिवार्य रूप से बदसूरत बन जाती है। फूल मुरझा जाते हैं; स्त्रियाँ बूढ़ी हो जाती हैं; आकाश की लालिमा अन्धकार में बदल जाती हैं...परन्तु बदसूरती सदैव बनी रहती है, आदि से अन्त तक। तो फिर क्यों उन वस्तुओं की ओर ध्यान आकृष्ट होने दिया जाए जो क्षणिक हैं, अस्थायी और नश्वर हैं; और मनुष्य क्यों न उन वस्तुओं के प्रति आसक्ति बढ़ाए जो स्थायी और अमर हैं; जो कभी नहीं बदल सकतीं; जिनके रूप में कभी परिवर्तन नहीं आ सकता और जो प्रकृति के नियम की भाँति अटल हैं ?

बदसूरती के सम्बन्ध में मेरे विचार किसी रहस्यवादी भाँति का परिणाम नहीं हैं। इनका आधार शुद्ध रूप से वाशनिमक है। इनका

सम्बन्ध धर्म, कला और इसी प्रकार की अन्य बातों से बिल्कुल नहीं है। सौन्दर्य वास्तव में एक सापेक्षिक चीज है, जिसके सम्बन्ध में कोई निश्चित मत दिया नहीं जा सकता। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अमुक वस्तु सुन्दर है; परन्तु किसी बदसूरत चीज के लिए हर समय और हर स्थिति में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह बदसूरत है; और यही बदसूरती की सबसे बड़ी विशेषता है। इसके अतिरिक्त बदसूरती सृष्टि का और जीवन का एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके बिना सौन्दर्य एक क्षण जीवित नहीं रह सकता। सौन्दर्य का आधार ही बदसूरती है और इस प्रकार बदसूरती भी एक प्रकार का सौन्दर्य है।

आइन्स्टीन के सापेक्षता के सिद्धान्त से इस विचार की पुष्टि भी हो जाती है और कदाचित् इस सिद्धान्त के अधीन संसार में सुख के साथ दुःख, फूल के साथ काँटे और सुन्दर औरतों के साथ बदसूरत मर्द पाए जाते हैं।



आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी यह बात उचित ही जान पड़ती है



कि संसार का वास्तविक सौन्दर्य, बदसूरती ही है। उदाहरणतः आप संसार के महान् पुरुषों की शकलों का ध्यान कीजिए। आप देखेंगे कि केवल बदसूरत आदमी ही संसार के 'महापुरुष' बनते हैं। बेचारे सुन्दर पुरुष तो प्रायः फौज में सिपाही भरती होते हैं; और बदसूरत आदमी उन पर शासन करते हैं। दूर क्यों जाइए; भारत की संसद के सचिव

की सूरतों का मुलाहिजा कीजिए । दो-चार को छोड़कर शेष सब ऐसे हें कि उनकी सूरत देखते ही प्रभू की महिमा का गान करने को जी चाहता है । मैं यह बात पूरी गम्भीरता से कह रहा हूँ, क्योंकि मेरा अटल विश्वास है कि 'महानता' केवल बदसूरत आदमियों के भाग्य में लिखी होती है । इस बीसवीं शताब्दी में जब स्त्री और पुरुषों को सुन्दर बनाने के सैकड़ों उपाय निकाले जा रहे हैं, मुझे यह देखकर बड़ी सान्त्वना मिलती है कि संसार के बड़े-बड़े नेता, बड़े-बड़े सत्ताधारी, जन-रत्न, साहित्यिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक आज भी बदसूरत ही हैं ।

×

×

×

सच तो यह है कि मुझे बदसूरती के प्रति एक प्रकार की आसक्ति हो चली है । लोग तो सुन्दर स्त्रियों पर मरते हैं, पर मैं हूँ कि बदसूरत स्त्रियों को देख-देखकर जीता हूँ । जब कभी मेरे घर में मेरे विवाह की बात चलती है तो मैं कुछ घबरा-सा जाता हूँ । नवयुवकों की भाँति, जो ऐसे अवसरों पर 'लड़की कैसी है ? सुन्दर है न ? रंग कैसा है ? कद कितना है ?' जैसे प्रश्नों का ताँता बाँध देते हैं, मैं भी ऊल-जलुल बकने लग जाता हूँ । उदाहरणतः—

“लड़की बदसूरत है न ?”

“हाँ ।”

परन्तु केवल 'हाँ' से मेरी सन्तुष्टि नहीं होती । इसलिए मैं फिर पूछता हूँ—

“क्या उसका रंग काला है, अमावस की रात जैसा ?”

“हाँ हाँ, निश्चिन्त रहो ।”

“और दाँत ?”

“मैंले और लाल-लाल, शायद पान खाती है ।”

“बहत खूब !...अच्छा !...पर यह तो बताओ उसकी आँखें कैसी हैं ?

“आँखें तो तनिक बड़ी-बड़ी सी हैं । चेहरे पर तो भली मालूम

होती है। और बाल भी तो घुँघराले हैं।”

“चच...च...च...”में हाथ मलते हुए कहता हूँ “यह तो बहुत बुरी बात है।”

और इस प्रकार यह सम्बन्ध टूट जाता है।

इस प्रकार कई रिश्ते आए, पर हरएक में कोई न कोई दोष निकल आया। किसी का रंग खिलता हुआ था, किसी की नाक सुतवाँ थी, किसी की कमर पतली थी, किसी का क्रद सरां की भाँति था। आशा की कली न खिलनी थी, न खिली। और यद्यपि अब मेरी आयु पैंतीस वर्ष से ऊपर है, परन्तु अब भी एक ऐसी स्त्री की खोज में हूँ जो सिर से पैर तक बदसूरत हो। एक बार मिनटो पार्क लाहौर की नुमाइश में एक ऐसी स्त्री देखी थी, जिसके लिए मैं निश्चित रूप से कह सकता था—‘ओ मेरे स्वप्नों की रानी।’ परन्तु वह किसी की व्याहृत निकली।



×

×

×

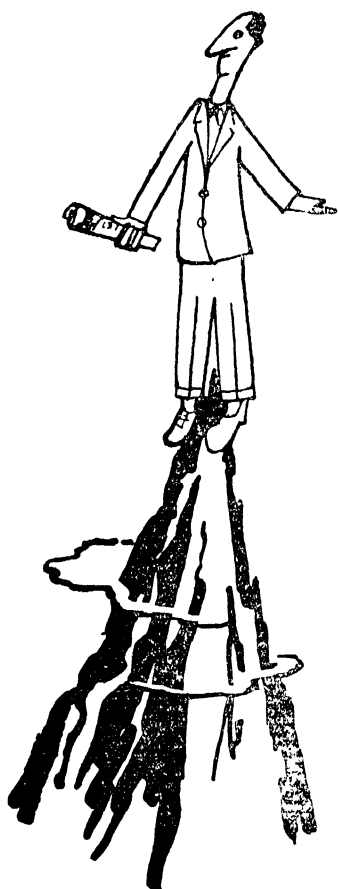
बदसूरती के विरुद्ध यदि कोई तर्क जुटाया जा सकता है तो वह है, कवियों का काव्य। कवि लोग यदि कविता करते हैं तो केवल सुन्दर चीजों के बारे में, जैसे सुन्दर नारी, सुन्दर फूल, सुन्दर घाटी। बस यही उनके विषय हैं। क्या कभी किसी कवि ने मगरमच्छ के रूप का बखान किया? किसी बदसूरत औरत को देखकर कभी किसी कवि की काव्यात्मक भावनाएँ तरंगित हुईं? यदि नहीं, तो सिद्ध हुआ कि बदसूरती एक बेकार चीज़ है। कुछ इसी प्रकार के तर्क, भावुक प्रकृति वाले लोग, बदसूरती के विरुद्ध पेश करते हैं। लेकिन इन तर्कों को अधिक महत्त्व देने की और इन पर गम्भीरता से चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कवियों से यह आशा की ही नहीं जा सकती कि वे उथली

और सस्ती भावनाओं से ऊपर उठकर इस गम्भीर प्रश्न पर विचार करेंगे। इसके अतिरिक्त वे तो सौन्दर्य का गुण-गान करने के कारण ही कमा खाते हैं। यदि आज लोग बदसूरती के महत्त्व को समझ जाएँ तो यही कवि लोग, जो आज चन्द्रमा और कलियों पर जान छिड़कते हैं, कल कौवों और भंग की पत्तियों पर कविता करने लगे। आवश्यकता इस बात की है कि पहिले आप लोगों की मनोवृत्ति में थोड़ा-सा परिवर्तन हो। परन्तु मैं इस पर भी कवियों का विश्वास नहीं करूँगा, क्योंकि कविता करना स्वयं एक सुन्दरता है और सुन्दरता का विश्वास क्या? स्वयं कवियों ने अपनी लाखों कविताओं में सौन्दर्य की निर्ममता और उसकी नश्वरता का रोना रोया है। फिर यह किस मुँह से बदसूरती के विरुद्ध कुछ कहने का साहस कर सकते हैं?

सौन्दर्य लड़ाई की जड़ है। पाषाण और धातु-युग से लेकर आज तक यह सौन्दर्य ही संसार की शान्ति को भंग करता चला आया है। सुन्दर चीजों के लिये लोगों ने अपने प्राण गँवाए, संस्कृतियाँ मिट गईं और राष्ट्र नष्ट हो गए। परन्तु हम हैं कि उसी उन्मादक लोलुपता से पुराने मार्ग पर लुढ़के जा रहे हैं—‘सुन्दरता, सुन्दरता, सुन्दरता!’

इस उन्माद के आवेश में हम यह विचार नहीं करते कि विश्व की शान्ति किस कारण खतरे में है। वह क्या चीज है जो संसार की अनेक जातियों को एक-दूसरे से मिलने नहीं देती। यदि तनिक भी विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि संसार में फूट और संघर्ष का एकमात्र कारण सौन्दर्य है। लोग लड़ते हैं, सुन्दर चीजों के लिए; सुन्दर विचारों के लिए; सुन्दर स्त्रियों के लिए; सुन्दर प्रदेशों के लिए; सुन्दर देशों के लिए। यदि लोग आज बदसूरती के महत्त्व को समझ जाएँ तो शान्ति तुरन्त स्थापित हो जाए। पिछले दस-बारह हजार वर्षों के मानव-जीवन में इस सौन्दर्य ने जो मुसीबतें ढाई हैं, इतिहास के पन्ने उसके गवाह हैं। आवश्यकता इस बात की है कि लोग सौन्दर्य के घातक परिणामों से परिचित हो जाएँ और सुन्दर चीजों के लिए लड़ना-भग-

इना छोड़ दें। आखिर ये सुन्दर चीजें हमारे किस काम की हैं ? हमारे जीवन का आधार सुन्दर वस्तुएं तो नहीं हैं; हमारा जीवन तो कुछ छोटी-छोटी असुन्दर-सी चीजों पर निर्भर है, जैसे रोटी, कपड़ा, मकान...।



वैचलर आफ़ आर्ट्स—कितना शानदार नाम है। सुनते ही मुँह में पानी भर आता है। किसी अंग्रेजी मिठाई का नाम मालूम होता है या कोई सम्मान की पदवी। 'राय साहब' और 'जान बहादुर' तो इसके सामने बिल्कुल निर्जीव और तुच्छ मालूम होते हैं। 'वैचलर आफ़ आर्ट्स' यह शब्द बोलते समय जबान चटखारे लेती मालूम होती है। कितने वैभव शाली शब्द है—ऐसा लगता है जैसे किसी बड़ी इमारत का नाव हो—ऐसी इमारत जहाँ ताजमहल की भाँति सुन्दर और कुतुब की लाट की भाँति ऊँची हो।

परन्तु वास्तव में 'वैचलर आफ़ आर्ट्स' न तो कोई अंग्रेजी मिठाई है और न ही कोई पदवी या इमारत। यह तो एक गरीब, आनथ-सी डिग्री का पूरा नाम है जिसे जन-साधारण की भाषा में बी०ए० कहते

हैं। शायद आप मेरी बात मानने से इन्कार करें और क्रोध में आकर कहें 'अजी साहब, यह आप क्या कहते हैं। कहां बैचलर आफ आर्ट्स जैसा सुन्दर और आकर्षक नाम और कहां बी० ए० जैसी पोच डिग्री? इन दोनों में क्या समानता हो सकती है? कहां राजा भोज, कहां गंगू तेली। उँह !'

परन्तु यह है ठीक—बैचलर आफ आर्ट्स ही बी० ए० का पूरा नाम है। इसमें हैरान होने की क्या बात है? क्या आप अपने नौकर 'फतहसिंह' को 'फतू' कह कर नहीं पुकारते? दफ्तर के चपरासी मंगल-सिंह को 'मंगलू' नहीं कहते? फिर यदि समय के चक्कर से 'बैचलर आफ आर्ट्स' सिमट कर और सुकड़ कर केवल बी० ए० रह जाए तो अचम्भे की कौन-सी बात है? गरीबी में ऐसा ही हुआ करता है।

किन्तु एक जमाना था कि जब बी० ए० की दशा इतनी दयनीय नहीं थी, जितनी अब है। यह उस जमाने की बात है जब हम में से बहुत से नौजवान पैदा भी नहीं हुए थे। उन दिनों सुना है कि बी० ए० की डिग्री का बहुत रोव था। हमारे मुहल्ले में एक बूढ़े डिण्टी साहिब रहते हैं। बड़े भलेमानस हैं; बाल सफ़ेद हो गये हैं और आनरेरी मैजिस्ट्रेट हैं। एक दिन बातों ही बातों में मुझसे कहने लगे, "चिरंजीव, देखता हूँ आजकाल उदास रहते हो और आवारा घूमते हो! किन्तु जब हम तुम्हारी उम्र के थे तो बी० ए० पास करते ही तहसीलदार बन गये थे और एक तुम हो कि बी० ए० पास करने पर नौकर तक हुए नहीं और सूट-बूट डाटे बिरते हो।"

इस तरह वह पन्द्रह-बीस मिनट तक लम्बा-चौड़ा उपदेश देते रहे। जब चुप हुए तो मँने विनीत स्वर में सिर झुकाकर कहा, "श्रीमान् आपने किस सन् में बी० ए० पास किया था?"

डिण्टी साहिब ने आँखें बन्द करके और दिमाग पर जोर देकर कोई सन् बताया। वह सन् मुझे ठीक प्रकार याद नहीं, परन्तु वह सन् ईसा से पूर्व नहीं था।

और इस तरह की रूमानी कहानियाँ आपने भी अवश्य सुनी होंगी । एक रंगरेज का लड़का जो बी० ए० पास करने के बाद वजीफ़ा लेकर विलायत गया और वहाँ से आकर सीधा चीफ़ इंजीनियर बन गया । एक पटवारी का बेटा, जो एक दिन अपने बाप का अफ़सर बना और जिसे अन्त में अपने-बाप ही को घूस लेने के अपराध में नौकरी से हटाना पड़ा ।

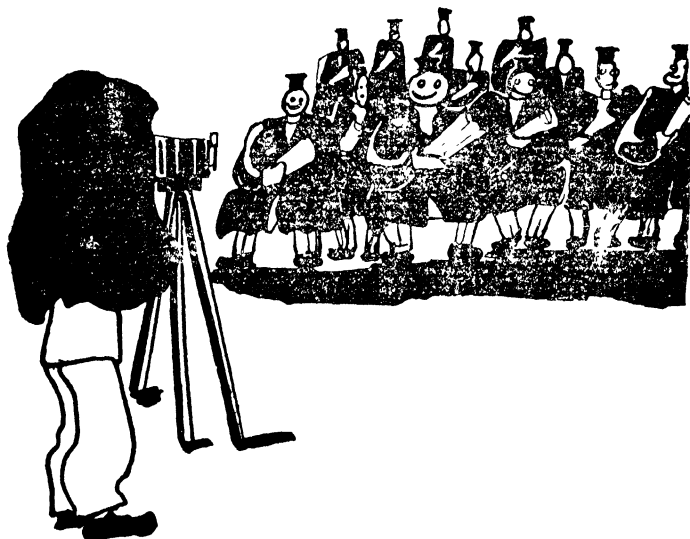
एक निर्धन तेली का लड़का जो बी० ए० पास करने के पश्चात् आई० सी० एस० बना और जिसके ड्राइंगरूम में आज भी एक छोटा-सा चांदी का कोल्हू यादगार के रूप में मेंटल पीस पर रखा हुआ दिखाई देता है । एक गंडेरी बेचने वाले का पोता और एक खानसामा का धेवता ... पुराने ज़माने की अचरज भरी, अनोखी कहावतें और कहानियाँ, रोचक, मधुर, रोमांचकारी, जिन्हें पुराने ज़माने के पेंशन पाने वाले बूढ़े या बूढ़ी दादियाँ जाड़ों के दिनों में अंगीठी के पास बैठकर कम उम्र और कम अक्ल, अंडर ग्रैजुएटों को सुनाया करती हैं । मैं इन्हें बी० ए० की कहानियाँ कहा करता हूँ । यह बी० ए० की कहानियाँ इतनी ही रोचक, मधुर और आश्चर्य जनक होती हैं जितनी 'चन्द्रकान्ता' की घटनाएँ । इन्हीं कहानियों को सुन-सुन कर बेचारे अंडरग्रैजुएट नये-नये स्वप्न देखते लगते हैं और हवाई महल बनाने लगते हैं । कभी कल्पना संसार में देखते हैं कि वे हाइकोर्ट के जस्टिस की कुर्सी पर बैठे हैं और उनके चारों ओर वकील और बैरिस्टर 'माई लार्ड, माई लार्ड' कह कर सम्मान प्रकट कर रहे हैं । या फिर वे पुलिस कप्तान बन गए हैं और घोड़े पर सवार होकर बाज़ार से निकल रहे हैं । उनकी पगड़ी का तुर्रा हवा में लहरा रहा है और लोग उन्हें झुक-झुक कर सलाम कर रहे हैं । या फिर वह आई० सी० एस० की प्रतियोगिता में चौथे नम्बर पर आए हैं और उनके पिता को इतनी प्रसन्नता हुई है कि उन्होंने शहर के सारे बँड-बाजे अपने घर के दरवाजे पर इकट्ठे करवा लिए हैं ।

परन्तु यह सब धोखा है, माया है, भ्रम है ।

यह कुछ तो बी० ए० की सुनी-सुनाई कहानियों का असर होता है और कुछ जवानी के उबलते हुए आशावाद का कि बी० ए० पास कर लेने के काफी समय बाद तक नौजवानों के मन और अस्तित्व दोनों पर एक प्रकार का नशा-सा छाया रहता है और वे अपने को बहुत बड़ा मनुष्य समझने लगते हैं। उस समय उनकी दृष्टि में बी० ए० की परीक्षा का महत्व 'वाटर लू' की लड़ाई, सिकन्दर के हमले और एवरेस्ट के अभियान से कम नहीं होता। एक बी० ए० पास नौजवान जब अपने घरवालों से बात करता है तो एक ऐसे शिष्ट, सम्य और कृत्रिम ढंग से बोलता है जैसे वह स्वयं अपने ही घर में मेहमान हो। उसके उठने-बैठने का ढंग और भी हास्यास्पद हो जाता है। उदाहरणतः जब वह कुर्सी पर बैठता है तो इस प्रकार हाँपे से और चौकन्ना होकर, गानो वह किसी पहाड़ की चोटी पर बैठ रहा है और उसे प्रत्येक क्षण गिर पड़ने का भय है। उसकी छाती और गर्दन का तनाव इतना अधिक हो जाता है कि बेचारी माँ बार-बार पूछती है, 'क्यों बेटा, तुम्हारी गर्दन को क्या हुआ है? कहीं कोई नस तो नहीं चढ़ गई। लाओ, जरा मालिश कर दूँ।' और बेटा इस बात से और भी चिढ़ जाता है। जब वह बाजार में निकलता है तो उसे ऐसा लगता है मानो उसके रोम-रोम पर बी० ए० लिखा हुआ है और लोग उसकी ओर कनखियों से देखकर एक दूसरे को बता रहे हैं—'लो देख लो; वह जा रहा है वह जवान, जिसने इस साल बी० ए० पास किया है।'।

परन्तु यह उन्मत्त दशा, अधिक समय तक नहीं रहती और इसका मुझे निजी अनुभव है। काश, आप उस दिन यूनीवर्सिटी हॉल के द्वार पर खड़े होते, जिस दिन मैं वहाँ से काला गाउन पहने, आँखों पर सुनहरी फ्रेम का चश्मा लगाए, हाथ में बी० ए० की डिग्री लिए मन्थर गति से बाहर निकला था। दस नवम्बर १९३६ की सुहावनी सुबह थी और यूनीवर्सिटी हाल के पुराने क्लाक से लेकर ताँगे वाले की आवाजों तक, दुनिया की हर चीज़ सुन्दर लग रही थी; यहाँ तक कि अनारकली के दूकानदार भी

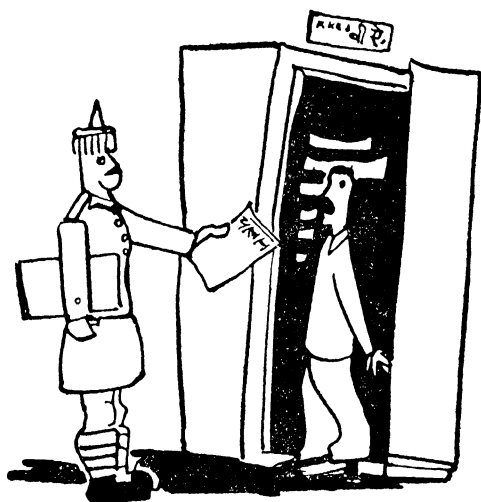
हमें देख-देख कर खुश हो रहे थे और हँस रहे थे। हम टोलियाँ बनाए, रेशमी गाउनों की सरसराहट का संगीत सुनते हुए, अनारकली में फोटोग्राफरों की दुकानों में घुसते चले गए। यहाँ कितनी भीड़ थी। चारों



ओर काले गाउन, दिलचस्प बातें, ऊँचे कहकहे, और “चीयरियो”, “माईडीयर” की आवाजें। फोटो उतरवाए गए और फिर रास्ते में लिखने के पंड का भी आर्डर दिया गया—“लाला पेड़ाराम, बी० ए०”, “मलिक अल्लाह बख्श बी० ए०”, “सरदार बूढासिंह, बी० ए०”—उद्देश्य नाम छपवाना नहीं था बल्कि शब्द “बी० ए०” का प्रचार करना था।

परन्तु जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, यह दशा बहुत दिनों तक कायम नहीं रही। घरवालों के चाव-चौंचले, दोस्तों, बूढ़ों और रिश्तेदारों की खातिरदारियाँ, दो-चार दिन की थीं। कुछ दिन तक तो प्रशंसा और प्यार भरी बातों का सिलसिला चला और हमने समझा कि अब

डिप्टी कमिश्नर साहब का पत्र आया कि सरकार तुम्हारे बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर लेने पर बहुत प्रसन्न है; और तुम्हारे इस साहस पूर्ण कार्य के लिए तुम्हें पुरस्कार स्वरूप तहसीलदार, डिप्टी या पुलिस कप्तान नियुक्त करती है। परन्तु कई महीने बीत गए और सिवाय एक साइकिल चालान के कोई और सरकारी पत्र नहीं आया, तो हमने सोचा कि इस



प्रकार हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से तो काम चलेगा नहीं, कोशिश करनी चाहिए। सम्भव है सरकार को हमारे बी० ए० पास करने का पता ही न लगा हो। इतनी बड़ी सरकार है और आखिर उसे और भी बहुत से काम करने पड़ते हैं। यह सोचकर आखिर हम आई० सी० एस० की प्रतियोगिता में बैठ गए। वहाँ जाकर पता लगा कि—

“अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।”

और “सितारों से आगे जहाँ और भी हैं।”

यहाँ बी० ए० से भी बड़ी डिग्रियाँ हैं, और उन डिग्रियों के मालिक भी यहाँ परीक्षा के लिए आए हुए हैं। मन उदास और खिन्न-सा हो

गया। इसी कारण पचें अच्छे न हुए। रही सही कसर इन्टरव्यू ने पूरी कर दी। यह इन्टरव्यू भी अजीब बला है। हमने यह विषय बी० ए० में काहे को पढ़ा था। वह तो खैर हुई कि मैंने सावधानी बरती और पिताजी की सोने की घड़ी साथ लेता गया, जो उन्हें इनाम में मिली थी, वरना बड़ी हेटी होती। इन्टरव्यू बोर्ड के चेयरमैन बड़े ही सहज स्वभाव के थे। बड़े ही प्यार से कहने लगे—“तुम्हारा नाम क्या है?”

मैंने कांपती हुई आवाज़ में अपना नाम बताया तो बोर्ड के दूसरे मेम्बर भट बोल उठे—“डरते क्यों हो? खुलकर बात करो। हम तुम्हें खा तो नहीं जाएंगे।” मैंने उत्तर दिया—“मैं किसी से नहीं डरता। मेरा बाप नम्बरदार है।”

बोर्ड के मेम्बरों ने मुझ पर सवालियों की भड़ी लगा दी, परन्तु मुझसे एक भी सवाल का उत्तर न बन पड़ा। अन्त में जब मेरे परिवार की सेवाओं का सवाल आया तो मैंने भट जब से घड़ी निकाल कर सामने रख दी।

“यह क्या है?” बोर्ड के चेयरमैन विस्मित होकर बोले।

“यह एक घड़ी है।” मैंने भट जवाब दिया।

“हाँ हाँ, यह तो मैं भी देखता हूँ कि यह एक घड़ी है।”

“श्रीमान्” मैंने मुस्करा कर कहा, “यह घड़ी सोने की है और मेरे पिताजी को इनाम में मिली है।”

“बहुत खूब” एक और मेम्बर बोला—“और कोई सेवा...”

मैंने कहा—“लड़ाई में मेरे दादा के दादा की एक टांग जाती रही थी।”

“कोई सबूत? कोई सर्टीफ़िकेट?”

मैंने हिचकिचाते हुए उत्तर दिया—“सर्टीफ़िकेट तो कोई नहीं, परन्तु मेरी दादी ने अनेक बार मुझे बताया है कि मेरे दादा के दादा...”

मेरी बात पूरी होने से पहले ही वे हँस पड़े। आखिर चेयरमैन ने कहा—“अब आप जा सकते हैं।”

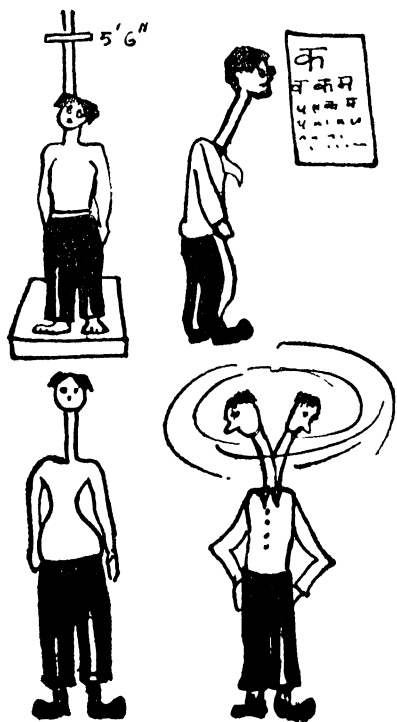
मे जेब में घड़ी डालकर बाहर निकल आया। कुछ समय बाद आई० सी० एस० का नतीजा निकला तो मेरा नाम भी उसमें था, परन्तु दो सौ निन्यानवे नम्बर पर।

×

×

×

आई० सी० एस० के बाद बेचारा गरीब बी० ए०, कई चक्कर काटता है और कितने ही पापड़ बेलता है। कभी इन्टरव्यू में फेल, कभी पर्चों में गोल। फौज और पुलिस के लिए क्रद छोटा निकलता है या अगर क्रद ठीक तो छाती कम चौड़ी निकलती है। कहना यह कि प्रत्येक डाक्टर की परीक्षा में कोई न कोई दोष अवश्य निकल आता है। आई०



सी० एस० में उसकी आँखें कमजोर थीं; पी० सी० एस० में उसके फेफड़े मजबूत न रहे; जब तहसीलदारी की परीक्षा के लिए पहुँचा तो उसे दिल का दौरा पड़ने लगा था; और आखिर में जब वह सरकारी क्लर्कों की परीक्षा में सम्मिलित हुआ तो डाक्टरों के बोर्ड ने घोषणा कर दी कि इसका दिमाग कमजोर है और सम्भव है कि दो-चार महीनों में पागल हो जाए।

इन मंजिलों से गुज़रकर उसे पता चलता है कि अकेली बी० ए० की डिग्री

की क्या कीमत है। बी० ए० की डिग्री तो एक बेकार, कागज का टुकड़ा है। यहां कद चाहिए, छाती चाहिए, शरीर और स्वास्थ्य चाहिए, सरकार की सेवा का रिकार्ड और उठने-बैठने के सम्य शिष्ट ढंग और रईसाना ठाठ-बाठ चाहिए। वह दिन लद गए, जब बाप आलू-छोले बेचता था और बेटा बी० ए० पास करके, भट्ट डिप्टी बन जाता था। अब तो स्थिति यह है कि यदि बाप डिप्टी है तो बेटा आलू-छोले बेच रहा है। दो-चार दिन हुए मेरे मुहल्ले के डिप्टी साहब मुझ से फिर मिले। उनके लड़के ने भी हाल ही में बी० ए० पास किया था। मुझसे कहने लगे—“भई, तुम बहुत से मुकाबले के इम्तहानों में बैठे हो, हमको भी राय दो कि लड़के को कहाँ भेजें ?”

मैंने कहा—“श्रीमान्, इसे मुकाबले के किसी इम्तहान में न भेजिएगा।”

“तो फिर क्या करूँ ?” डिप्टी साहब भुंभुला कर बोले—“इसे इतना पढ़ाया है, बी० ए० है !”

मैंने बड़े ही नम्रस्वर में पूछा—“डिप्टी साहब, आपके घर में सिवाए आपके किसी और ने भी सरकारी सेवा की है ?”

डिप्टी साहब रुक-रुक कर बोले—“ऊँ हूँ.....नहीं, लेकिन सुना है कि हमारे एक दूर के रिश्तेदार ने ग़दर में किसी अंग्रेज़ की जान बचाई थी...कुछ ठीक याद नहीं...कोशिश करूँ तो...।”

मैंने कहा—“वही, मेरे दादा की टाँग वाला किस्सा है।”

डिप्टी साहब चौंके—“क्या कहा आपने ?”

“कुछ नहीं”, मैंने उत्तर दिया—“मैं तो यही कहता हूँ कि उसे किसी परीक्षा में न भेजें और आगे भी न पढ़ाएं, सब डिग्रियाँ बेकार हैं। उसे किसी व्यापार में डालिए। जूतों की दूकान...।”

“जूतों की दूकान ?” डिप्टी साहब ने क्रोध में आकर कहा।

“या कोयलों की दूकान।” मैंने स्वाभाविक रूप से कहा।

डिप्टी साहब सड़क पर थूकते आगे बढ़ गए।

तो यह है बी० ए० की दास्तान, दुखद और शिक्षाप्रद । इसे सुनकर चाहे हँसिए, चाहे रोइए । परन्तु हँसते समय यह याद रखिए कि बी० ए० मर्द भी होते हैं और औरतें भी । इन बी० ए० पास औरतों की दशा भी इतनी ही दयनीय है, जितनी कि मर्दों की । ये भी अधिक से अधिक किसी स्कूल में मास्टरनी हो जाती हैं और अगर दुर्भाग्य से मैनेजिंग कमेटी के चेयरमैन की दृष्टि में चढ़ जाती हैं, तो इस नौकरी से भी इस्तीफा देकर घर आ बैठती हैं और बर्तन माँजते-माँजते बूढ़ी होने लगती हैं ।

इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि अगर आपको बी० ए० पास लोगों की दशा पर हँसना है तो केवल इतनी-सी बात याद रखिये कि इनमें औरतें भी शामिल हैं । इसके बाद अगर सम्भवता आपको हँसने की इजाजत दे तो आप शौक से हँसिये ।

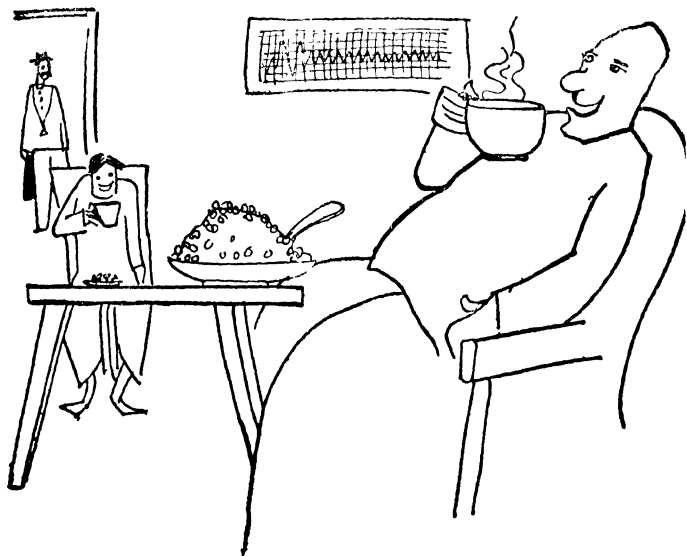
उर्दू के विख्यात कवि 'गालिब' ने लिखा है—“दर्द का हृद से गुजरना है दवा हो जाना ।” परन्तु गालिब यह भूल गया कि बहुधा जब दवा हृद से बढ़ जाती है तो वह स्वयं एक दर्द बन जाती है । परन्तु इन दोनों स्थितियों से परे एक और विलक्षण स्थिति भी होती है, जिसमें न कोई दर्द होता है न कोई दवा, बस केवल एक कल्पना ही होती है । जो बढ़ते-बढ़ते दर्द का रूप धारण कर लेती है, यहां तक कि अच्छे भले आदमी भी कहने लगते हैं कि “भाई, मेरा तो स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया है ।”

दूसरों के सम्बन्ध में लिखने से पहले अपना उदाहरण देता हूँ । बचपन में मुझे थूकने की बहुत बुरी आदत थी । मां-बाप के रोकने पर भी मैंने इस आदत को नहीं छोड़ा । जब कोई टोकता तो कह देता था, “भई, क्या करूँ ? गले में थूक बहुत है, इसलिये बार-बार थूकना पड़ता है ।” इस सम्बन्ध में कई डाक्टरों से भी परामर्श लिया गया । किसी को मेरे गले में कोई दोष दिखाई न दिया । दिखाई भी कहां से देता ? वह तो केवल वहम था, कोरी कल्पना, जिसका निदान असम्भव था । परिणाम यह हुआ कि जो एक बुरी आदत थी वह रोग बन गई । बीस-पच्चीस वर्ष की आयु में यह एक पक्का रोग बन गया और मैं बार-बार मिलने-जुलने वालों से यही कहता कि “भई, क्या करूँ, मेरा तो गला इतना खराब है कि...”

मैं यह तो कहने को तैयार नहीं हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन

में एक वहम पाल लेता है जो आगे चलकर उसके जी का जंजाल बन जाता है और उसका स्वास्थ्य बिगाड़ देता है, परन्तु यहां कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य पेश करूँगा जिनसे प्रकट होगा कि बहुत-से रोगी किसी वास्तविक रोग में नहीं, वरन् किसी काल्पनिक रोग में फसे रहते हैं। सम्भव है आपने भी कोई ऐसा काल्पनिक रोग पाल रखा हो जिसे अपने मस्तिष्क के कोने में से ढूँढ़ निकालने में आपको यह लेख पढ़कर सहायता मिलेगी।

मेरे एक मित्र है—नाम नहीं बताऊँगा—जिनका स्वास्थ्य देखने में बहुत अच्छा लगता है, हँसते भी बहुत जोर से हैं, खाने-पीने में भी अपने किसी साथी से पीछे नहीं हैं, परन्तु उनसे जब मिलने जाइये, वे सो रहे होते हैं। उसके बाद जब भी आप पूछिये—कहिये, कैसा जी है? तो तुरन्त उत्तर देंगे—“भई, अपने स्वास्थ्य से तंग आ चुका हूँ। सर में हर समय हल्का-हल्का-सा दर्द रहता है, शरीर टूटता रहता है, हरारत भी

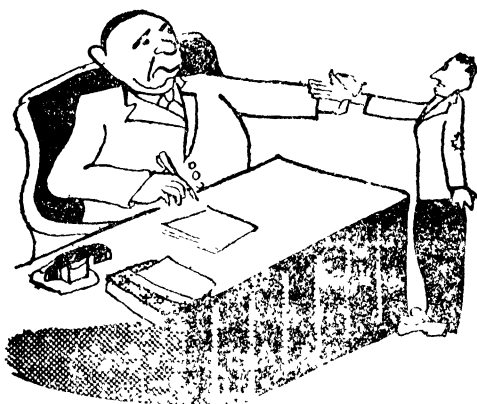


रहती है। अस्तु, आइये, बैठिये, कहिये आपके लिये क्या मंगाऊँ ? चाय या लस्सी ?” फिर कुशल-क्षेम की बात-चीत हो चुकने के बाद चाय आएगी तो यदि आप एक प्याला पिएंगे तो वे चार प्यालों से कम नहीं पिएंगे और साथ में कम-से-कम पाव भर दालमोठ भी डकार जाएंगे। अट्टहास करते हुए आपको हास्य-विनोद की बातें भी सुनाते रहेंगे— क्योंकि उनका स्वास्थ्य खराब है, सर में हल्का-हल्का दर्द रहता है, शरीर टूटता है और धीमी-धीमी हरास्त महसूस होती रहती है।

सर में दर्द और पेट में दर्द ऐसे रोग हैं जिनका निदान कोई चिकित्सक, हकीम या डाक्टर नहीं कर सकता। कोई ऐक्स-रे इन दर्दों का चित्र नहीं खींच सकता। यही बात ‘शरीर टूटने’ की है। यह कोई पेड़ की शाखा टूटने की तरह तो है नहीं कि उधर शाखा टूटी और इधर देखने वाले को दिखाई दे गई। रहा शरीर में हरास्त महसूस होने का प्रश्न। तो यदि शरीर में हरास्त नहीं होगी तो मनुष्य जीवित कैसे रहेगा ? परन्तु मेरे मित्र पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे गम्भीर होकर, मुंह बनाकर, हाथ आगे कर देते हैं और कहते हैं—“भई विश्वास नहीं होता तो लो स्वयं देख लो कि हल्का-हल्का ज्वर है या नहीं।” परन्तु आप जब हाथ देखते हैं तो वह आपको अपने हाथ की अपेक्षा ठंडा लगता है। आप कह देते हैं—“साहब, आपको तो ठंडा ज्वर है।” यही ठंडा ज्वर वह काल्पनिक रोग है जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है। परन्तु वे सज्जन ठंडे ज्वर का नाम सुनकर चिढ़ जाते हैं।

ठंडा ज्वर बहुत से लोगों को होता है, परन्तु इसका सबसे दिलचस्प अनुभव एक बैंक के मैनेजर को हुआ। एक क्लर्क उसके पास छुट्टी का आवेदन-पत्र लेकर आया और कहने लगा—“साहब, ज्वर आ रहा है, छुट्टी चाहिये।”

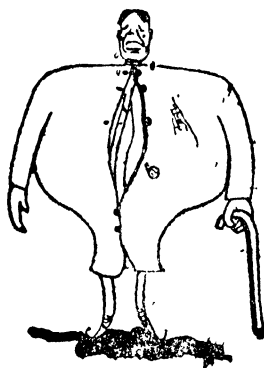
मैनेजर ने पूछा, “बैल, मैन ! क्या बात है ?” क्लर्क ने उत्तर दिया, “साहब, बुखार है।” यह कहकर उसने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। मैनेजर ने हाथ छुआ तो बिल्कुल ठंडा था। क्लर्क ने कहा, “साहब, हम



गरीब आदमी हैं,
इसलिये टेम्परेचर
नीचे है।" मनेजर
निरुत्तर हो गया।
उसे बलर्क को छुट्टी
देते ही बनी।
काल्पनिक रोग का
तापमान से कोई
सम्बन्ध नहीं होता।
तापमान चाहे कम

हो चाहे अधिक, यदि रोगी के मस्तिष्क में ज्वर है तो उसे ज्वर बढ़ा
दुआ है। आप इस बात के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं दे सकते।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिनका स्वास्थ्य बारहों महीने खराब रहता
है। ऐसे लोग मसूरी से नैनीताल, नैनीताल से शिमला, शिमला से ऊटी
और ऊटी से श्रीनगर के चक्कर लगाते रहते हैं। वे उन पहाड़ी स्थानों
के प्रत्येक डाक्टर को जानते हैं। इनका कभी किसी एक रोग से सन्तोष
नहीं होता। इन्हें अपने लिए प्रतिदिन एक नया रोग चाहिये। और यदि



किसी दिन नया रोग न मिलसके तो पुराने
रोग के लिये कोई नया नाम तो अवश्य
चाहिये जो चाय के साथ बिस्कुट की भांति
इन्हें प्रातःकाल मिल जाना चाहिये। नहीं
तो दिन भर इनकी तबीयत बिगड़ी रहेगी।
इस प्रकार के स्वास्थ्य की खराबी की
शिकायत करनेवाले साधारणतया हट्टे-कट्टे,
मोटे-ताजे, लाल-सफेद रंग के होते हैं। ये
लोग हर रोज़ मुर्गा खाते हैं, टानिक खाते
हैं, छः मील की सैर करते हैं और रात को

१० बजे आनन्द से सो जाते हैं—क्योंकि स्वास्थ्य खराब है ।

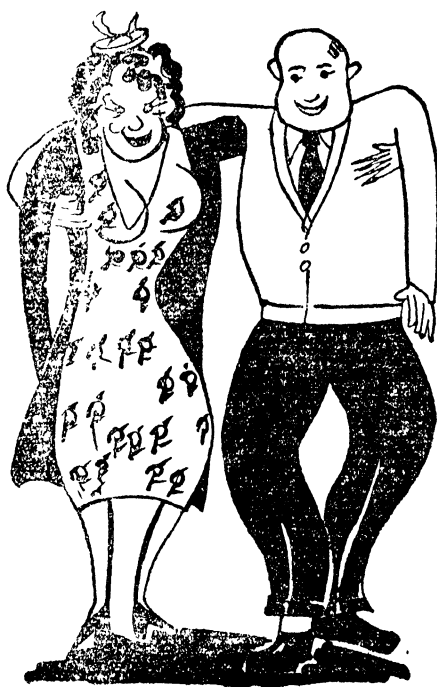
जिन लोगों का स्वास्थ्य अधिक खराब होता है वे हिन्दुस्तान में भी नहीं रहते—हिन्दुस्तान से बाहर रहकर वे लोग स्वास्थ्य सुधारने में लगे रहते हैं । जिसका स्वास्थ्य जितना खराब होता है वह हिन्दुस्तान से उतना ही दूर जाता है । मेरे एक मित्र इसी स्वास्थ्य के चक्कर में तेहरान में अपने जीवन के दिन पूरे कर रहे हैं । एक अन्य मित्र है जो बेचारे ग्यारह वर्ष से पेरिस में पड़े हुए हैं । एक और सज्जन है जिन्हें स्विट्जरलैंड के अतिरिक्त और कोई प्रान्त रास नहीं आता । एक सज्जन पिछले पन्द्रह वर्षों से होनो लूलू में मत्यु-शैया पर पड़े हैं । प्रत्येक पत्र में वे लिखते हैं कि “बस यह मेरा अन्तिम पत्र है, अन्तिम विदा !” इन पन्द्रह वर्षों में उनके बहुत से स्वास्थ्य, हट्टे-कट्टे मित्र जिन्हें कोई रोग न था, इस असार संसार से कूच कर चुके हैं, परन्तु मेरे मित्र पन्द्रह वर्षों से लगातार होनो-लूलू में डटे हुए हैं और स्वास्थ्य सुधारने में लगे रहते हैं । इसके सिवाय दिन भर इनके पास और कोई काम भी तो नहीं होता । उदाहरण के रूप में मेरे पेरिस-स्थित मित्र को लीजिये । इन बेचारों का दिन भर का प्रोग्राम कुछ इस प्रकार का होता है:—

प्रातः उठे, चाय पी और चाय के साथ विटामिन ‘ए’ की एक गोली ले ली । फिर शौच बनाकर गरम पानी से नहाए और कलेवा देने वाली बेट्रेस से हँसकर दो-चार बातें कीं । कलेवा बहुत संक्षिप्त-सा होता है । दो उबले अंडे, आध पाव मक्खन, फ्रांसीसी शहद, अंगूर की जली, मादाम लफ्रांसवाँ के हाथ के तले हुए चिकन-टोस्ट या गुदी टोस्ट । खस्ता फ्रांसीसी ब्रैड और फ्रांसीसी शराब की एक बोतल और उसके साथ विटामिन बी. सी. डी. की एक मोटी गोली । यह है संक्षिप्त-सा कलेवा जिस पर इन्हें गुजारा करना पड़ता है ।

कलेवा करने के बाद कपड़े पहने और छड़ी हाथ में लेकर निकट के पार्क की ठंडी छाँव में मुलाकात करने और उस दिन के लिए नये रोग का नाम उनसे मालूम करने में थोड़ा समय लगा दिया । वहाँ से

लौटे और यदि धूप खिलती हुई महसूस हुई तो नदी के किनारे मछलियाँ पकड़ने चले गए। वहाँ उनकी ऐसे मित्रों से भेंट होगी जिनका स्वास्थ्य उनसे भी अधिक खराब होगा। ऐसे लोगों से मिलकर उन्हें कुछ सन्तोष, कुछ सान्त्वना का अनुभव होता है। होटल में वापस आकर लंच खाया। लंच भी कलेवा की भाँति बहुत संक्षिप्त-सा होता है। छः कोर्स के लंच के बाद शराब की एक बोतल ! उसके बाद विटामिन ई., एफ., जी., एच. आदि की एक एक गोली। उसके बाद आराम करने के लिये बिस्तर पर लेट गए।

ढाई बजे सोए थे, जब जागे तो पाँच बज रहे थे। जल्दी-जल्दी उठे,



चाय पी, चाय लानेवाली वेट्रेस से हँसकर दो बातें कीं, गरम पानी से नहाए, कपड़े बदले और घर से बाहर निकल पड़े। घूमने के सिलसिले में कई कार्य हो जाते हैं। घूमते हुए डाक्टर की दूकान पर पहुँचे, जहाँ ताकत का इन्जेक्शन लिया। फिर बाग में घूमने चले गए जहाँ मादाम रुबेल या मादमोजेल लूफरां, जिनका स्वास्थ्य इनके स्वास्थ्य की भाँति खराब होता है, इनकी प्रतीक्षा कर रही होती है। एक-दूसरे के रोग के सम्बन्ध में पूछ-

ताछ करने के बाद ये दोनों रोगी एक-दूसरे की कमर में हाथ डाल कर, एक-दूसरे को मानो संसार के कष्टों के मुकाबले के लिये सहारा देते हुए, डिनर खाते हैं। फिर ये नंगी स्त्रियों का नाच देखने में श्रथवा किसी रात्रि-क्लब में नाच-गान में चार बजे तक का समय जैसे-तैसे व्यतीत करते हैं। स्वास्थ्य खराब रहता है।

यदि मैं यह कहूँ कि खराब स्वास्थ्य रखने वाले व्यक्ति साधारण-तया हट्टे-कट्टे एवं मोटे-ताजे होते हैं तो यह चित्र का एक पहलू है। एक दूसरा पहलू भी होता है। कुछ लोग हैं जो बांस की भांति लम्बे और पतले होते हैं; परन्तु वे किसी देव की भाँति खाते हैं। कुछ लोग चूहों की भांति पतले और मरियल दिखाई देते हैं, परन्तु वे खाने की मेज के शेर होते हैं। आप यही सोचते रह जाते हैं कि इस दुबले-पतले शरीर में वह कौन-सी गुप्त कमानी या कल लगी हुई है जो दस आदमियों के



भोजन को इस पतले ते शरीर में ठूस देती है; बल्कि इस प्रकार लोप-कर देती है कि मेज पर सिवाय खाली हाथों के और कुछ नहीं रहता। इसके बाद ये सज्जन हाथ खींच कर कहते हैं—“भई, स्वास्थ्य बहुत खराब रहता है। नहीं तो……!” तोबा ! नहीं तो हमें भी खा लेते ?

वहम जब पक्का हो जाता है तो वह केवल काल्पनिक बात नहीं रहता, वरन् पागलपन का रूप धारण कर लेता है। मैं एक साहब को जानता हूँ जिन्हें यह वहम था कि वे कांच के बने हुए हैं। अतः

वे चलते-फिरते उठते-बैठते हर समय इस प्रकार व्यवहार करते थे कि मानो अपने को टकराने से बचा रहे हों। उन्हें यही चिन्ता सताती रहती थी कि कहीं किसी से टक्कर न हो जाए और उनके कोमल, कांच के शरीर का बरतन छन्न से टूट न जाए। ये सज्जन आजकल आगरे के पागलखाने में हैं। एक और सज्जन थे जो इस वहम में फँसे हुए थे कि उनके सिर के ऊपर मुर्गे का सिर लगा हुआ है। आप भरी सभा में उठकर कई बार बांग दे दिया करते थे। ये भी आजकल आगरे के पागलखाने में हैं। वास्तव में इस प्रकार के वहम या रोग का सम्बन्ध शरीर की अपेक्षा मस्तिष्क से अधिक होता है। और जब मस्तिष्क रोगी हो जाय तो उसकी चिकित्सा बड़ी कठिनाई से होती है।

फिर यह बात भी याद रखने योग्य है कि स्वास्थ्य केवल व्यक्ति का खराब नहीं होता वरन् समाज का भी खराब हो जाता है। यह प्रतिक्रिया दोनों ओर से होती है—अर्थात् बहुत से खराब स्वास्थ्य वाले व्यक्ति मिलकर समाज के स्वास्थ्य को बिगाड़ देते हैं और खराब स्वास्थ्य रखने वाला समाज अच्छे-भले आदमियों का स्वास्थ्य बिगाड़ देता है। इस बात को अधिक विस्तार न देकर यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि जब समाज का स्वास्थ्य खराब होता है तो केवल इतना कह देना काफी नहीं कि उसका स्वास्थ्य खराब है, वरन् यह भी कहना आवश्यक है कि स्वास्थ्य के साथ-साथ उसकी प्रवृत्ति भी खराब है।

